

आधुनिक भारत के निर्माता

धोंडो केशव कर्वे

जी० एल चन्दावरकर

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

आषाढ 1899 ● जुलाई 1977

प्रकाशन विभाग

मूल्य 6 00

निदेशक प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार
पटियाला हाउस, नई दिल्ली 110001 द्वारा प्रकाशित

विक्रय केन्द्र ● प्रकाशन विभाग
कामर्स हाउस (दूसरी मंजिल), करीमभाई रोड बालार्ड पायर
बम्बई-400038

8 एस्प्लेनड पूर्व, कलकत्ता-700001
शास्त्री भवन, 35 हैड्डोज रोड, मद्रास 600006

मैसर्स प्यारी इलैक्ट्रिक प्रैस, फरीदाबाद मे मुद्रित।

प्रस्तुत पुस्तकमाला

इस पुस्तकमाला का ध्येय भारत के उन सपूतों का चरित्र चित्रण करना है जिनका राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता-संग्राम में प्रमुख योगदान था। आने वाली पीढ़ियों को उनके विषय में जानकारी देना वांछनीय समझ कर इस पुस्तक-माला में उनकी जीवन गाथा प्रकाशित की जा रही है। आशा की जाती है कि अब तक प्रकाशित ग्रंथों से यह अभाव बहुत कुछ दूर हुआ है। इन छोटी पुस्तकों के रूप में लब्धप्रतिष्ठ नेताओं की सरल संक्षिप्त जीवनियों को प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लेखक अपने विषय की जानकारी रखने वाले योग्य व्यक्ति हैं। पुस्तकों का आकार 200 से 300 पृष्ठों तक सीमित रखने का प्रयत्न किया गया है। इन ग्रंथों को विस्तृत अध्ययन की सामग्री उपलब्ध कराने की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, न ही इनका उद्देश्य अन्य सांगोपांग जीवनियों का स्थान ग्रहण करना है।

यह वांछनीय था कि इन जीवनियों का प्रकाशन काल क्रम के अनुसार किया जाए—परन्तु ऐसा संभव प्रतीत नहीं हुआ। इसमें प्रमुख बाधा यह थी कि लेखन कार्य केवल ऐसे व्यक्तियों को सौंपना था जो अपने चरित्र-नायक के विषय में साधिकार लिखने में सक्षम थे। अतः ऐतिहासिक क्रम की इन जीवनियों के प्रकाशन में उपेक्षा अपरिहार्य जान पड़ी। परन्तु आशा यही की जाती है कि प्रायः सभी लब्धप्रतिष्ठ राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां स्वल्प काल में पाठकों के सामने प्रस्तुत करने में हम सफल होंगे।

इस पुस्तकमाला के प्रधान सम्पादक श्री आर० आर० दिवाकर हैं।

भूमिका

भारत मे समाज सुधार के कार्यक्षेत्र मे धोंडो केशव कर्वे का स्थान अनुपम है।

वे असाधारण गुण सम्पन्न महापुरुष थे। यद्यपि उनकी कोटि के अन्य अधिकांश महापुरुषों ने समाज में अपना कार्यारम्भ उच्च विचारों, सार्वजनिक भाषणों और लेखो से किया, जिससे जनता मे जागृति आई और ऐसी शक्तिशाली योजनाएं बनी जिनका काफी प्रचार हुआ और जिन्हें मान्यता मिली, तथापि कर्वे ने उनकी तुलना मे लघुतम स्तर पर कार्य आरम्भ किया यानी अपने आप से।

समाज सुधार का उनका मुख्य कार्यक्षेत्र नारी उद्धार का था जिसमें उनका पदार्पण उनकी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद हुआ जब उन्होने दूसरा विवाह एक विधवा से किया। इसकी प्रेरणा उन्हे अपने ही चिंतन से मिली—विधवाओं की उस दुर्दशा से जिसे उन्होने स्वय अपने घर मे और पास पड़ोस में देखा था। उनका सुकुमार हृदय दूसरो के दुःख से द्रवीभूत हुआ जिससे उनको अपने जीवन का यह आदर्श बनाने की प्रेरणा मिली कि मुख्यत विधवाओं की स्थिति सुधारने में अपना जीवन लगाऊंगा और फिर स्त्री शिक्षा का काम हाथ मे लूगा।

बालक अथवा छात्र के रूप मे उनमें कोई वैशिष्ट्य परिलक्षित नही हुआ। अपने बचपन और अपनी जवानी के बारे मे उन्हे सिर्फ अपने सकोची

स्वभाव का स्मरण था और इस असर के लिए वह हमेशा अपने आपको कोसते रहे।

ज्यों ज्यों उन्होंने अपने चरित्र की ओर दृष्टिपात किया त्यों-त्यों उनकी सरलता और सकोच, उनके आरम्भिक जीवन के सघर्ष और उनकी तकलीफों से भरी तरुणाई ने क्षतिपूर्ति की एक अदम्य अभिलाषा को उत्पन्न किया कि सदा, सर्वत्र, सब की भलाई करें।

वे कद के छोटे, कमजोर और दुबले थे। लेकिन उनके भौतिक ढांचे के भीतर एक शक्तिशाली आत्मा थी जिसने उनके चरित्र को अडिग बनाया, ऐसी आत्मा जिसने किसी भी उपलब्धि अथवा क्षमता को प्राप्त करके अपने प्रयासों का अंत समझने से इन्कार किया। अपने दीर्घ जीवन के प्राय अंतिम काल तक उनका मन सशक्त था तथा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करने की क्षमता रखता था। उनमें मानवमात्र के लिए कुछ कर सकने की इच्छा बनी रही, यहां तक कि जब वह अपने जीवन के सौ वर्ष पूरे कर रहे थे, तब भी वह समाज सेवा के नए कार्यक्रम और योजनाएं बना रहे थे।

महर्षि कर्वे के अनन्य जीवन का एक वैशिष्ट्य यह था कि वह अपनी जन्म शती देखने के लिए ही नहीं, बल्कि उसके बाद भी चार वर्षों तक जीवित रहे। बेशक, यह एक सयोग की बात थी, जिसका सम्बन्ध उनके कार्य और चरित्र की महत्ता के साथ शायद ही जोड़ा जा सकता है, फिर भी इसने उन्हें अतिरिक्त भव्यता तो दी ही थी। एक सौ चार वर्षों का लगभग वह सारा जीवन दूसरों के लिए बिताया गया था। जीवन, जो ऐसी कठोरताओं से भरा था जिन्हें झेलना ही था, कठिनाइयों से भरा था जिन्हें दूर करना था, ऐसे कार्यों से भरा था जिन्हें भारी विरोध के बावजूद पूरा करना था। धीरज रख कर उन्होंने यह सब किया और उसी मानसिक सतुलन के साथ बहुत कुछ झेला। उनके द्वारा स्थापित हिंगणे का नाम बदल कर कर्वे नगर रखा गया। एक के बाद दूसरे विश्वविद्यालयों द्वारा उन्हें डाक्टरेट की

उपाधि दी गई । वे भारत रत्न से अलंकृत किए गए, जो उनके देश और सरकार द्वारा दी गई सबसे बड़ी श्रद्धांजलि का प्रतीक था । भारत के अमर पुरुषों के बीच उनको स्थान प्राप्त हुआ, जिसे स्वय उनके कार्यों ने और उनके प्रति देश के स्त्री पुरुषों की कृतज्ञता ने उनके लिए तैयार किया था । पर इनमे से कोई भी अपने विषय म उनकी धारणा को गडबड़ा न सका, जिसे वह स्वय मानते थे यानी मानवता का एक विनम्र सेवक ।

कर्वे ने केवल देना ही जाना था। उन्होंने जो कुछ मागा परसेवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए मागा । अपने लिए उन्होंने कुछ भी ग्रहण नही किया ।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझसे महर्षि कर्वे के जीवन-काल मे ही उनकी जीवनी लिखने को कहा गया । वह जीवनी डा० डी० के० कर्वे शतवार्षिकी समिति के लिए उनकी जन्म शती के अवसर पर लिखी गई थी । पुस्तक के प्रदान की घोषणा तत्कालीन प्रधानमत्री, पडित जवाहरलाल नेहरू ने शतवार्षिकी समारोह मे की थी । यह समारोह ब्रेबोन स्टेडियम म 18 अप्रैल 1958 को अनुष्ठित हुआ था । उस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मुझे प्रोफेसर कर्वे की उपस्थिति से, उनके व्यक्तित्व से और उनसे दो या तीन बार की गई भेंट से मिली ।

जब भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मत्रालय के प्रकाशन विभाग ने पुन मुझ से इस काम को हाथ मे लेने को कहा, तो मैंने इस कारण सहष स्वीकार कर लिया कि ऐसे व्यक्ति के जीवन और उसके प्रयत्नो के सान्निध्य से, जिसकी महत्ता का ऐसा चमत्कार था कि वह उस महत्ता के एक अश को दूसरो को भी दे सकता था—और यह प्रभाव अब भी बना है—मैं एक बार फिर आध्यात्मिक ऊचाई पर उठ सकूगा । मैंने इसलिए भी स्वीकार कर लिया कि ससार से उस व्यक्ति के विदा लेने के चार वष बाद मैं उसके जीवन को समग्रता से देखने का अवसर पा सकूगा ।

मैंने अपने पूव रचित ग्रथ की सामग्री से काफी अपरिहाय उधार लिया

है। लेकिन उसके विषय में फिर से सोचने और फिर से कहने की जरूरत को नजरअंदाज नही किया। इस पुस्तक में हर अध्याय को लिखते या फिर से लिखते समय मुझे जो नया आनंद और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हुआ, उससे मैं स्वय ही चकित रह गया। मुझे पुनरुक्ति की ऊब का तनिक भी अनुभव नही हुआ।

अपनी पहली पुस्तक की सामग्री का उपयोग करने के लिए मुझे श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय से अनुमति मांगनी पडी थी। उसके प्रकाशन के सर्वाधिकार उसके पास थे। एस० एन० डी० ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय के सिंडीकेट ने कृपापूर्वक मेरा अनुरोध स्वीकार किया। अत्यत कृतज्ञतापूर्वक मै उसकी कृपा का आभार स्वीकार करता हू।

पहले ही की तरह मेरे वर्तमान प्रयास मे भी मुझे भास्करराव कर्वे से सब तरह की सहायता प्राप्त हुई है। वह समय समय पर मुझे नई सामग्री सुलभ कराते रहे विशेषत अपने पिता के जीवन के अंतिम वर्षों के बारे मे। ऐसी ही सहायता मुझे सीताबाई अन्नेगिरि से मिली। मैं इन दोनों के प्रति कृतज्ञ हू।

श्री एस० नटराजन की पुस्तक 'ए हड्रेड इयर्स आव सोशल रिफार्म इन इडिया' से मुझे बहुत उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई, विशेषत इस पुस्तक के पाचवें अध्याय के लिए। उस पुस्तक और उसके लेखक का मैं ऋणी हू। इस अध्याय की पृष्ठभूमि को तैयार करने के लिए स्वर्गीय सर नारायण चदावरकर की पुस्तकें और भाषण भी बडे उपयोगी साबित हुए।

महर्षि कर्वे की मराठी मे आत्मकथा और अग्रेजी मे लिखे गए उनके सस्मरण, जो 'लुकिंग बैक' शीर्षक से पुस्तक रूप मे प्रकाशित हैं, मेरी जानकारी के मुख्य स्रोत रहे हैं। अगर मैं इस बात का उल्लेख न करू कि मैंने इन दोनो पुस्तको से तथा महर्षि कर्वे लिखित एक अन्य पुस्तिका से भी अनेक अश और उद्धरण लिए हैं तो मैं कृतज्ञता की भावना से वचित रहूगा।

भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय का प्रकाशन विभाग मेरे धन्यवाद का पात्र है—ऐसे धन्यवाद का, जिसे मैं शब्दों में पूरी तरह व्यक्त नहीं कर सकता। उसने मुझे एक बार फिर मानवता के उस सेवक के समर्पित जीवन के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर दिया है, जिसका व्यक्तित्व प्रत्येक अर्थ में भारत की प्रतिभा और परम्पराओं का प्रतीक बन गया है।

जी० एल० चन्दावरकर

प्रार्थना समाज,
160, राममोहन राय रोड,
बम्बई 400004

विषय-सूची

मुरुद का कर्वे परिवार

मुरुद के छोटे-से कस्बे मे बड़ा जोशो-खरोश था। बाजार म भारी सख्या में ब्राह्मण जमा थे। वे उस मकान म जाने को थे, जहां बडौदा के महाराज गायकवाड का प्रतिनिधि ठहरा हुआ था। वह अपने मालिक की ओर से ब्राह्मणो का दक्षिणा देने आया था।

वे लोग उस मकान मे दाखिल हुए। वहा बडी चहल-पहल थी। उनमे स हर एक वहा से दस रुपये की दक्षिणा लेकर बाहर निकला। उनमे से हर एक का दिल खुशी से भरा हुआ था।

अपने छोटे से मकान के सामने खुली जगह मे भीकू और धोडू, दो भाई, खेल रहे थ। भीकू अपने भाई से पाच साल बडा था और उसका उपनयन हो चुका था।

उनका एक मित्र दौडा हुआ आया।

"तुमने सुना, भीकू ? महाराज ब्राह्मणो को दक्षिणा दे रहे है। उन लोगो को देखो न, वे कैसे खुश है। उनमे से हर एक को दस रुपये मिले है।"

भीकू उछल पडा, "दस रुपये ? सच ?"

"मेरे चाचा ने मुझे बताया है। सच नही तो क्या ?"

'क्या सबको दक्षिणा मिल रही है ?" भीकू ने पूछा।

'हा सबका, जिनका उपनयन हो चुका है। भीकू, तुम भी क्यो नही जाते ? तुम को भी दस रुपये मिलेंगे।"

भीकू सोच विचार म पड गया। मैं भी क्या न जाऊ? कुछ क्षणा बाद वह घर के अन्दर भागा। वह रसोईघर मे गया। वहा उसकी मा खाना बना रही थी।

भीकू ने पुकार कर कहा, "मा, जरा बाहर देखो न। एक धनी आदमी ब्राह्मणों को दक्षिणा बाट रहा है। हर एक को दस रुपये मिल रहे हैं।"

मा ने कहा, "मुझे सब मालूम है, भीकू! लेकिन तुम जाकर खेलो। मेरे काम मे बाधा मत डालो।"

भीकू ने पूछा, "लेकिन मा, मैं भी दक्षिणा क्यो न ले आऊ? लोग कह रहे हैं कि जो भी सध्या करता है, उसे दक्षिणा पाने का हक है। मैं जाऊ तो मुझे भी दक्षिणा मिलेगी।"

मा ने कहा, "बेटे, हम लोगो के लिए मागना उचित नहीं है।"

भीकू बोला, 'मागने की क्या बात है? हम लोगों को मागना थोडे ही पडेगा।"

"महाराज दक्षिणा दे रहे हैं। जो लोग उसे ले रहे हैं, व मागने वाले ही कह जाएगे।"

"मा, तुम देख नही रही हो? कितने ही ब्राह्मण दक्षिणा ले रह हैं।"

मा ने दृढ स्वर मे कहा, "हम उनके जैसे नही हैं, भीकू बेटे। तुम कर्वे खानदान के हो, जिसका बडा मान है। तुम्हारे पुरखे बडे ऊचे पद पर थे और अपने वचस्व के लिए मशहूर थे। तुम्हारे पिता आज धनी नहीं हैं। हम लोगो के बुरे दिन जरूर आए है लेकिन हमारे कुल की प्रतिष्ठा कम नहीं हुई है। हम अपन कुल का अभिमान कभी भूल नही सकते। तुम्हारे मामा जो दश-ग्रथी ब्राह्मण[1] ह कभी दान-दक्षिणा के लिए हाथ नही फलात।"

'लेकिन मा दक्षिणा बाटने वाला मामूली आदमी नही है। वह महाराज हैं—बडोदा के महाराज।"

भीकू को लगा कि इसके बाद मा कुछ न कह सकेगी लेकिन उस

1 दश ग्रथी—वह ब्राह्मण जिसने दस महान धार्मिक ग्रथ पढे हो

स्वाभिमानी स्त्री ने दो-टूक उत्तर दिया, "हा वह महाराज है और उस खानदान के है जो कुछ ही समय पहले कर्वे लोगो का कर्जदार था। तुम्हारे परिवार के लाखो रुपये अब भी महाराज के पास बकाया हैं।"

यह सुनकर भीकू अचरज मे पड गया। उसे बडी निराशा हुई। उसे लगा कि मेरे पिता, जो इस समय कोरेगाव गए हुए हैं, जरूर मुझे दक्षिणा ले लेने की इजाजत दे देते। केशोपंत दूसरे दिन वापस आए। जब उन्हे सारी बातें बताई गईं तो उन्होने अपने लडके से कहा कि तुम्हारी मा ने जो कुछ कहा, वह ठीक है। अपनी पत्नी के प्रतिष्ठापूर्ण निर्णय से केशोपंत का माथा ऊचा हो गया।

छोटे लडके धोडू ने यह सब सुना और देखा। उसने सावधानी से इन बातो को मन मे रख लिया।

पेशवाओ के समय मे पूना मराठा साम्राज्य की राजधानी थी। इसलिए सब ओर से, खास तौर से कोकण से, उद्यमी लोग वहा खिचे चले आते थे। ऐसे ही लोगो मे केशव भटट कर्वे और रघुनाथ भटट कर्वे नाम के दो भाई भी थे। उन लोगो ने पूना मे एक दुकान खोली। थोडे ही दिनो मे दुकान चल निकली और उनकी धाक बध गई। उनके ग्राहको मे खुद पेशवा लोग भी थे। अपनी विद्वत्ता के लिए केशव भटट का बडा सम्मान था। पेशवा ने उन्हें हटनोर नाम का एक गाव इनाम मे दिया था। वे अग्निहोत्री[1] थे और धार्मिक कृत्यो में पुरोहित के रूप मे बुलाए जाते थे। रघुनाथ भट्ट अधिक व्यावहारिक और व्यवसाय-कुशल थे। यद्यपि रोजगार धधे का लगभग सारा काम वह ही करते थे, तथापि भाई के प्रति उनकी ऐसी भक्ति थी कि सब कुछ भाई के नाम से ही होता था। उन लोगो ने अपनी ईमानदारी और अपने परिश्रम से बहुत धन इकट्ठा कर लिया था। उन्होने और उनके दो हिस्सेदारो ने बडोदा के मराठा सरदार दामाजी गायकवाड को साढे छ लाख

1 अग्निहोत्री—वह ब्राह्मण जो अपने घर मे हमेशा यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित रखता है और नियमित रूप से उसमे हवन करता है

रुपये दे रखे थे। उन्होंने नागपुर के एक अन्य मराठा सरदार जानोजी भोंसले को भी रुपये दे रखे थे। इसकी लिखित पाई जाती है।

कर्वे भाइयों ने मुरुद में, जहां उनका पैतृक घर था, एक बड़ी जायदाद खरीदी और अपने परिवार के लिए एक विशाल भवन बनवाया। गांव का तालाब, जिसे बनवाने में आठ छः हजार रुपये खर्च हुए और दुर्गा देवी का मंदिर जो मुरुद का गौरव था, कर्वो की उन्हीं की देन थे। रघुनाथ भट्ट के सबसे छोटे लड़के बापूनाना, धोंडो केशव कर्वे के पितामह थे। उनके जमाने में कर्वे परिवार का धन घटने लगा था।

धोंडो केशव के पिता केशोपंत ने अपने बचपन में परिवार की थोड़ी-बहुत समृद्धि देखी थी। परिवार की आभिजात्य आदतें कुछ उन्हें विरासत में मिली थी और कुछ उन्होंने सीख ली थी, लेकिन अपने बड़े भाई के विपरीत उन्हें गरीबी से समझौता कर लेने में कोई खास कठिनाई नहीं हुई। पड़ोस के गांव कारगांव में कर्वे नाम के एक धनी जमींदार थे। केशोपंत उन्हीं की जमींदारी में मैनेजर का काम करने लगे थे।

केशोपंत कर्वे की पत्नी लक्ष्मीबाई शेरोली के केशोपंत पराजपे की बेटी थी। केशोपंत के विवाह के समय तक मुरुद के कर्वे लोगों की बाहरी टीमटाम किसी तरह चली आ रही थी, लेकिन नई दुल्हन को यह समझते देर न लगी कि असली हालत कुछ और ही है। उन्हें असली हालत को स्वीकार कर लेने में अधिक समय न लगा। गरीबी से लड़ने में अपने पति का पूरी वफादारी से उन्होंने साथ दिया। केशोपंत कारेगांव में अकेले रहते थे। पच्चीस रुपये की सालाना आमदनी में से जो कुछ थोड़ा बहुत हो सकता था वह बचा भी लेते थे। इस बचत के अलावा मुरुद में उनकी जो थोड़ी-सी जमीन बच रही थी, उसकी आमदनी मिलाकर वह थोड़े ही समय में परिवार का कर्ज चुकाने में सफल हुए। लक्ष्मीबाई शेरोली में रहती थी और वहां के बहुत बड़े परिवार की योग्यतम सदस्या थी। कुछ ही बरसों में लोग न केवल सारे कर्ज से छुटकारा पा गए, बल्कि मुरुद में उन्होंने अपना एक छोटा-सा मकान भी बनवा लिया। इस मकान में केशोपंत के चार सौ रुपये लगे। जब भीकू

और धोंडू के साथ उनकी बहन स्कूल जाने के लायक हुई, तो केशोपंत की पत्नी अपने बच्चों के साथ मुरुद के नए मकान में चली गई। उनके छः बच्चे थे, लेकिन पहले तीन बचपन में ही एक के बाद एक जाते रहे। गरीबी और दुख ने केशोपंत और उनकी पत्नी को कड़ी सीख दी। जी कड़ा करके, बड़ी कुशलता से उन लोगों ने कष्ट में और नाममात्र की आमदनी से अपने और अपने बच्चों के लिए खुशियां बटोर लीं। ज्यों ज्यों बच्चे बढ़ते गए, घर में खुशहाली आती गई। लेकिन परिवार ने परिश्रम और कमखर्ची की अपनी पुरानी आदत नहीं छोड़ी, यहां तक कि बच्चे भी कठोर श्रम और मितव्ययी जीवन के आदी हो गए। तंगी और कठिनाई के बीच भी केशोपंत और लक्ष्मीबाई ने अपने हृदयों में कर्वे परिवार के स्वाभिमान की ज्योति जलाए रखी। यह ज्योति उन्होंने अपने बच्चों को भी दी।

धोंडो केशव कर्वे ने इन्हीं माता-पिता के घर शक संवत 1780 में वैशाख शुक्ल पंचमी के दिन, तदनुसार 18 अप्रैल, 1858 को जन्म पाया था। ऐसे माता पिता के यहां जन्म पाने के लिए वह अपने को अपूर्व भाग्यशाली मानते थे, क्योंकि उनके चरित्र और आचरण ने न केवल उन्हीं पर, बल्कि उनके बड़े भाई भीकू पर, जिन्हें वह दादा कहते थे, और उनकी बहुत अम्बा पर भी, अपनी स्थायी छाप छोड़ी थी। केशोपंत बड़ी शांत प्रकृति के थे, लेकिन अपने सिद्धान्तों पर अडिग और दृढ़ थे। उनकी पत्नी एक आदर्श हिंदू महिला थीं और उनमें कुछ ऐसे गुण थे, जो हिंदू चरित्र की सर्वोत्तम विशिष्टताओं से युक्त महिलाओं में भी कदाचित ही होते हैं। हिन्दू विवाह में वर की माता से अधिक सम्माननीय और कोई नहीं होता। धोंडू के विवाह में उनकी मां ने वह आदर का पद त्याग दिया, वधू पक्षवालों के सामने अपने को अपराधी स्वीकार किया और एक मामूली-सी भूल के लिए अपने गालों में स्वयं तमाचे मार कर उसका प्रायश्चित भी किया।

भारत के इतिहास में 1858 एक स्मरणीय वर्ष है। तथाकथित ब्रिटिश इण्डिया के निर्माण और संगठन का काम इसी वर्ष पूरा हुआ था। देश में एक सरकार, एक प्रशासन और एक-सी आधुनिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना का

यह परिणाम था। 1857 की महत्वपूर्ण घटनाओं के बाद, इसी साल, गवर्नर जनरल और प्रथम वाइसराय लार्ड कैनिंग ने भावी नीति सूचक यह घोषणा की थी

"मैं गुस्से में शासन नहीं करूंगा। मैं कठोरतम न्याय से काम लूंगा और उसे इतना अपरिवर्तनीय बना दूंगा जितना कानून और शक्ति के प्रयोग द्वारा संभव है। लेकिन जब तक मेरी जिम्मेदारी है तब तक मेरी सरकार क्रोध से या अविवेकपूर्वक न तो एक भी शब्द बोलेगी, न एक भी काम करेगी।"

महारानी विक्टोरिया की ओर से 1 नवम्बर 1858 को जो घोषणा हुई, उससे साबित हो गया कि ये कोरे शब्द ही नहीं थे। इस तरह 1858 से एक नई नीति के साथ नए युग का आरम्भ हुआ, जिसका समुचित वर्णन घोषणा के इन अन्तिम शब्दों में किया जा सकता है

"उनकी खुशहाली हमारी ताकत होगी, उनका संतोष और उनकी कृतज्ञता हमारा सबसे बड़ा इनाम।"

प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स के अनुसार, "1857 के बाद, धीरे धीरे, स्थिति उलटी हो गई। प्रगति की मांग सरकार की ओर से नहीं, जनता की ओर से होने लगी।"

उन्नीसवीं शती के खत्म होते होते यह बात स्पष्ट हो गई कि 1857 का विद्रोह भले ही असफल हो गया हो देश की परिस्थिति पर उसने गहरी छाप छोड़ी, साथ ही उसने वास्तव में घटना चक्र को इस प्रकार प्रभावित किया कि शिक्षित भारतीय अधिकाधिक ऐसा अनुभव करने लगे कि उनका भविष्य कमो-बेश उनके अपने ही हाथों में है। वे यह भी अनुभव करने लगे कि अंग्रेज यद्यपि विदेशी हैं फिर भी उन्हें राजनैतिक विपक्षी समझना चाहिए। अपने साथ वे जिस नए दृष्टिकोण और विचारों को लाए वे भारत में उनके द्वारा शासित लोगों में फैलने लगे। उनका विचार था कि अगर इस बहुमूल्य देन का सही उपयोग किया जाएगा तो ये उनके देश को स्वतन्त्रता दिलाने में उप-योगी हो सकेंगे। सर चार्ल्स मेटकाफ की यह आशापूर्ण भविष्यवाणी सत्य थी (या क्या ऐसी उनको आशंका थी?)—"मैं आशा करता हूं कि एक दिन सवेरे

मैं जागकर देखूगा कि ब्रिटिश सम्राट का छत्रकिरीट भारत से उठ गया है।" वह सुहावना सवेरा नब्बे बरसो के बाद आया। नब्बे वर्ष की यह अवधि भारतीय इतिहास मे विलक्षण है। इसी अवधि मे वे व्यक्ति पैदा हुए जिन्होने नई सस्थाओं की स्थापना की, घटना चक्र का रूपातरण किया, राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया, देश की आजादी के लिए कठिन प्रयत्न किए और अनगिनत बलिदान दिए। 1858 और इसके पहले के दो बरसो म राष्ट्रीय महत्व की घटनाए घटी और ऐसे व्यक्तियों को जन्म दिया जिन्होने अपने बताए हुए नये मार्गों पर चलने वाले देशवासियो का नेतृत्व किया। इसी प्रकार के व्युत्पन्न मानवो मे पला और बडा हुआ एक ऐसा व्यक्ति भी था जो इस दीर्घ और घटनापूर्ण युग मे एक हाथ म सुधार की मशाल जगा कर चलता था और दूसरे हाथ मे दान पात्र लिए रहता था। प्रारम्भिक काल के अग्रगामियो के उस समुदाय का वह अग था जिनमे सुधार की प्रेरणा का उदभव स्रोत अपना ही अन्त करण था। भारतीय इतिहास मे सन 1858 जिस अन्य घटना के लिए स्मरणीय है—और यह कम महत्वपूर्ण नही है—वह है भारतीय महिला समाज के उद्धारक धोडो केशव कर्वे का 18 अप्रैल के दिन जन्म।

यद्यपि धोडो केशव कर्वे का जन्म अपनी ननिहाल शेरोली म हुआ था, लेकिन वह मुरुद को ही अपना घर समझते थे। अपनी आत्मकथा मे उन्होंने मुरुद को दक्षिण कोकण का एक समुद्रतटीय स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान बताया है। उसी नगर मे पिछली शती म ऐसे अन्य कई विशिष्ट पुरुषो का जन्म हुआ जिन्होने पिछले सौ वर्षों की घटनाओ पर अपने जीवन और चरित्र की छाप छोडी उनमे राव बहादुर विश्वनाथ नारायण मण्डलीक प्रमुख थे। वह प्रथम श्रेणी के वकील थे और उन्होने कई वर्षों तक बडी योग्यता से बम्बई म्युनिसिपैलिटी की सेवा की। गवनर जनरल की लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेंबर चुने जाने वाले वह प्रथम भारतीय थे। मुरुद की एक अन्य सतान वामन आबाजी मोडक थे। बम्बई विश्वविद्यालय से स्नातको का जो पहला दल निकला, वह उसी मे थे। उसी दल में अतर्राष्ट्रीय ख्याति के प्राच्य विद्या विशारद डा० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर और देश मे समाजसुधार आदोलन के प्रवतक महादेव गोविंद रानडे भी थे। मोडक श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री थे। उन्ह

बम्बई की सरकारी संस्था एलफिस्टन हाई स्कूल का प्रथम भारतीय प्रिंसिपल होने का गौरव प्राप्त हुआ था। गुरुद के इन सब तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों का प्रोफेसर कर्वे बड़े गौरव के साथ स्मरण करते थे।

"मेरे मन की चीज न दोगी तो मैं खाना नहीं खाऊंगा।"

"धोंडू, शरारत मत करो" मां ने कहा, "मैं तुम्हें कल तले हुए कादवा[1] दूंगी। देखते नहीं, अभी मैं कितने काम में उलझी हूं?"

लेकिन धोंडू जिद पर आ गया "नहीं, मुझे तो अभी दो, नहीं तो ।"

"अच्छा अच्छा, लो और चुप रहो।" उसकी मां ने एक चम्मच में कुछ दाल लिए और उन्हें थोड़ी देर आग दिखाकर धोंडू को दे दिया। दाने अभी ठीक से तले भी नहीं गए थे, लेकिन धोंडू उतने ही में मगन हो गया।

धोंडू के माता पिता का कोमल हृदय अपने बच्चों के लिए प्यार से भरा था। वे शायद ही कभी दादा, धोंडू या अम्बा से कड़ी जबान में बात करते हों। तीनों बच्चे भी कभी ही कोई ऐसा काम करते थे जिससे सख्ती बरतनी पड़े। धोंडू को जब मुंह मांगी चीज न मिलती तो वह कभी कभी शरारत पर उतर आता पर उसकी मां भरसक उसे खुश रखने की कोशिश करती। जब कभी वह उनकी बात न सुनता, तब आरम्या की मदद लेनी पड़ती। आरम्या घर का पुराना नौकर था। वही बच्चों को दुरुस्त कर पाता था।

धोंडू ने अक्षर ज्ञान शेनवी पंतोजी के स्कूल में प्राप्त किया।

"स्कूल सवेरे और तीसरे पहर, दोनों वक्त लगता था। स्कूल की पढ़ाई एक मंदिर में होती थी, जिसका काम सुबह सुबह शुरू हो जाता था। सबसे पहले सम्मिलित स्वर में धार्मिक प्रभात-संगीत (जिसे भूपाली कहते हैं) गाया जाता था। इस बीच सभी लड़के अपनी सूखी कलमें हल्के हाथ से कित्तों पर फिराया करते। जिन कागजों पर सुन्दर अक्षर लिखने वाले नमूने की लिखावट तैयार की जाती थी, उसे कित्ता कहते थे।"[2]

---

1 कादवा—एक तरह की दाल

2 लुकिंग बैक—डॉ० के० कर्वे का आत्मचरित, पृष्ठ 11

राय जी शास्त्री देवकुले से सहायता मिलने लगी। इससे गणित पर अधिकार पाने मे धोडू को बड़ी सहायता मिली और बाद में यह ज्ञान उसके बहुत काम आया। खेड तालुका के एक गाव के प्राइमरी स्कूल मे दादा को अध्यापक की जगह मिल गई। नए कायदो के मुताबिक प्राइमरी स्कूल के अध्यापक को तभी स्थायी बनाया जाता था, जब वह छठी कक्षा की सावजनिक परीक्षा पास कर ल। परीक्षा की तैयारी क लिए दादा छुट्टी लेकर घर आए। धोडू ने अध्ययन करने मे उनकी सहायता की। अत दादा को स्कूल म भर्ती नही होना पड़ा।

स्कूल और घर मे पढ़ने और परीक्षा की तैयारी के साथ साथ धोडू प्रतिदिन घर म परिवार के इष्ट देवता की पूजा भी करता था। पूजा खासी लबी होती थी। वह प्रतिदिन पुराण तथा राम विजय, शिवलीलामत तथा गुरु चरित्र आदि ग्रंथ पढ़ने मे भी कुछ समय लगाता था। कभी कभी शिवलीलामृत या गुरु चरित्र का पाठ प्राथना के रूप मे होता था। दादा ने जिस दिन सावजनिक परीक्षा दी, उस दिन धोडू ने उनकी सफलता के लिए शिवलीलामत का पाठ किया। इन नित्य और नैमित्तिक पाठो द्वारा धोडू को धार्मिक सस्कार मिला। आगे चलकर उसने जो काम हाथ म लिए, उनम उसे इससे प्रेरणा और मागदशन मिला। आगामी वर्षों मे महर्षि कर्वे बड़ी कृतज्ञता से उन प्रारम्भिक वर्षों को याद किया करत थ क्योकि इसी अवधि म उनक विचारो और आकाक्षाओं ने रूप लिया।

जब किसी धार्मिक कृत्य के अन्त मे भोज होता तो धोडू स श्लोक पाठ करन को कहा जाता। वह बड प्रभावशाली ढग स पाठ करता। सगीत से उसे इतना प्रेम था कि अच्छा सगीत सुनने या नाटक देखन से कभी न चूकता। चाह वह हरिकीतन हो, या तमाशा (लोक नत्य और सगीत का एक रूप) धोडू सब जगह नजर आता। कभी-कभी जब कोई नाटक मडली मुरुद मे, या पास क हरनाई गाव मे या फिर दूर के कस्ब दापोली म आती, तो धोडू के लिए नाटक देखने के लिए पाच किलोमीटर दूर हरनाई या दस किलोमीटर दूर दापोली पहुच जाना मामूली बात थी। एक दिन अपने कुछ मित्रो के साथ कोई नाटक देखने उसके दादा दापोली गए धोडू उनके साथ नही जा सका।

वह उस मडली का एक नाटक देख चुका था। इसी से उसे रुक जाने को कहा गया। उसके पिता कर्वे के यहा काम करते थे, उनके घर षष्ठी पूजन था। जरूरी था कि परिवार का कोई व्यक्ति उसमे शामिल हो। यह काम धोड़ू को सौंपा गया। इससे उसका मन तो बहुत उदास हुआ, लेकिन उसने मौके को हाथ से जाने नही दिया। पूजन और भोजन आदि में काफी रात गुजर गई पर फिर भी देर से जाने वाले एक दल के साथ उसने दापोली का सारा रास्ता तय किया और नाटक देखा।

पेड़ो पर चढना और दूसरो के बगीचे से आम और बेर तोडना धोड़ू को बड़ा प्रिय था। बरसात में गाव के कुए और तालाब भर जाते। मुरुद के सयाने लोग उनमे रविवार को तैराकी के लिए जाते थे। वे बच्चो को भी अपने साथ ले जाते थे और उन्हे तैरना सिखाते थे। धोड़ू भी उनके साथ जाता। एक बार कुछ लोगो ने धोड़ू के साथ गहरा मजाक किया। तालाब पर ले जाने के बदले वे लोग उसे एक गहरे कुए के पास ले गए। उन्होने उसे पानी मे उतार दिया और कहा कि तुम्हारे बाद हम लोग भी आ रहे हैं। अदर न तो कोई रस्सी थी, न कोई ऐसी चीज, जिससे उसे सहारा मिलता। वह पानी मे छटपटाने लगा। उसे लगा कि अब मैं डूब जाऊगा। इस तरह जब वह गोते खा रहा था कुए की जगत पर बैठे एक आदमी को दया आ गई और उसने उसे बाहर निकाल लिया। कई महीनो तक धोड़ू के मन से इस घटना का डर नहीं छूटा। खैर, बाद मे उसने तैरना सीख लिया।

अध्याय 2

आरंभिक संघर्ष

अध्यापक श्री सोमण ने देखा कि धोंडू न केवल पढने मे मेहनत करता है, बल्कि और काम भी करने को तैयार रहता है। उन्होंने अपने किशोर छात्र के उल्लास और कार्यनिष्ठा को पूरा मौका देने का निश्चय किया। उनके मित्र पांडुरंग दाजी बाल के यहा कई अखबार आते थे। सोमण जी श्री बाल के यहा से उन अखबारो को मगाने लगे और धोंडू की सहायता से उन्होंने दुर्गा देवी के मंदिर मे एक छोटा-सा वाचनालय खोल दिया। समाज शिक्षा का यह एक उल्लेखनीय प्रयोग था। धोंडू उत्साहपूर्वक इस काम में जुट गया। वह अखबारो की खबरें स्पष्ट उच्चारण के साथ पढ कर सुनाता, जिन्हें सुनने के लिए काफी लोग इकट्ठे हो जाते। लेकिन अपनी उपयोगिता और प्रारंभिक लोकप्रियता के बावजूद यह प्रयोग अधिक समय तक चल नहीं पाया।

वाचनालय के बंद होने से श्री सोमण की धुन कम नहीं हुई। उन्होंने दूसरा काम शुरू किया। यह काम था सहकारी आधार पर एक 'व्यापारोत्तेजक मंडली' की स्थापना। इसके अध्यक्ष श्री बाल और सचिव गोविंद विनायक गद्रे थे। पांच रुपये प्रति शेयर के हिसाब से मंडली के शेयर बेचकर आठ सौ रुपये इकट्ठे किए गए। इन रुपयो से मंडली के सचिव श्री गद्रे के मकान के आगे वाले कमरे में एक स्टोर खोला गया। धोंडू उस वक्त तक किसी धंधे मे नहीं लगा था। साथ ही इस प्रयास के मुख्य प्रणेता का उस पर विश्वास था। गद्दी पर बैठने के लिए उसे चुना गया। धोंडू सामान बेचने और हिसाब रखने का

काम बड़ी लगन और सावधानी से करता था, लेकिन कभी कभी उसका हिसाब अंकों के समूह में गड़बड़ा जाता था। उसको बहीखाता भरना पड़ता था जिससे उबरना मुश्किल था। हिसाब रखने में उसके अध्यापक (जो अब मालिक भी बन गए थे) शायद ही उससे कुछ बेहतर थे। जब कभी धोंडू कहीं चला जाता, श्री सोमण या श्री गद्रे गद्दी पर बैठते और सामान बचा करते। शायद इसी से गड़बड़ी की शुरूआत हुई। साल के अन्त में पता चला कि इस धंधे में घाटा हो रहा है। फिर भी वे लोग और सात आठ महीनों तक इसे चलाते रहे। श्री सोमण सावधान और दूरदर्शी थे। उन्होंने समझ लिया कि इस काम को चलाते जाना बुद्धिमानी न होगी। बड़े दुख के साथ उन्होंने दुकान को बंद कर देने का निश्चय किया। भागीदारों को बड़ी मुश्किल से वह उनके रुपये चुका सके। मगर संस्थापकों का रुपया डूब गया।

जब धोंडू ने काम शुरू किया था, श्री सोमण ने उससे कहा था कि तुम्हें तीन रुपये महीना मिलेंगे। लेकिन अठारह महीनों में उसे कुल सवा छः रुपये मिल सके। इसका तो उसने कोई ख्याल नहीं किया, लेकिन दुकान के बंद होने पर उसे अफसोस हुआ, यहां तक कि उसने इसको अपनी ही असावधानी का परिणाम समझा और इसके लिए खुद सजा भुगतने की तजवीज की। दाजीबा काणे नाम के एक भागीदार ने पांच शेयर खरीदे थे, यानी उनको संचालकों से पच्चीस रुपये लेने थे। धोंडू अपने मित्र भीकाजीपंत वैशंपायन के साथ श्री काणे से मिला। उसने सूद सहित इन रुपयों को खुद लौटाना स्वीकार किया। उधर उसने श्री सोमण तथा अन्य संचालकों से कहा कि चूंकि श्री काणे ने पच्चीस रुपयों का सामान उधार खरीदा था, इसलिए उनको रुपये लौटाने की आवश्यकता नहीं है। इस तरह धोंडू ने अपने आदरणीय अध्यापक के पच्चीस रुपये बचाए। श्री काणे जानते थे कि धोंडू कर्वे के पास पैसे नहीं हैं, लेकिन वह उसका विश्वास करते थे। कुछ ही वर्षों में धोंडू ने ट्यूशन के पैसे बचाकर उनका कर्ज अदा कर दिया। सूद सहित उसने श्री काणे को कुल तीस रुपये दिए।

1869 में मराठी की छठवीं कक्षा की परीक्षा प्रथम सार्वजनिक परीक्षा बना दी गई। साथ ही उसके लिए परीक्षार्थियों की आयु सत्रह वर्ष निर्धारित कर दी गई। नतीजा यह हुआ कि सत्रह साल का होने तक धोंडू को इंतजार करना पड़ा। यह परीक्षा बंबई, या रत्नागिरि या सतारा जैसे शहरों में होती थी।

1875 के सितंबर में मुरुड के कुछ लड़कों ने इस परीक्षा में बैठने के लिए सतारा जाने का निश्चय किया। उनमें धोंडू भी था। उन दिनों लड़कों का इतनी दूर जाना मामूली बात नहीं थी। काफी दूर पैदल चलना पड़ता था। इसलिए बड़े बूढ़ों ने उनको रोकना चाहा। लेकिन जब उन्होंने देखा कि लड़कों का निश्चय अडिग है तो उन्होंने इजाजत दे दी। अपना अपना सामान कंधों पर लादकर वे लोग चल पड़े।

पहले दिन उन्होंने करीब अड़तालीस किलोमीटर की पैदल यात्रा की। दूसरे दिन सवेरा होते होते वे चिपलूण पहुंच गए। चिपलूण का पुलिस अफसर मुरुड का रहने वाला था और लड़कों को अच्छी तरह पहचानता था। उसने उन लोगों की बड़ी मदद की। उसने उनका सामान ले जाने के लिए एक घोड़े का भी इंतजाम कर दिया और घोड़े वाले को उनके साथ कर दिया।

लड़कों का सामान थोड़ा-सा था और बहुत भारी नहीं था। हर एक के पास एक जोड़ा धोती और दो कमीजें थीं। उन्होंने कोट पहन रखे थे और सिर पर एक-एक रूमाल लपेट रखा था। पैरों में उनके मजबूत चप्पलें थीं, जो ऊबड़ खाबड़ सड़कों पर सैकड़ों मील की यात्रा झेल सकती थीं। रात में वह 'घोंगडी' बिछा कर सो जाते थे। 'घोंगडी' एक तरह का मोटा कंबल था, जो कई काम आता था। यद्यपि उनके पास छाता भी था लेकिन जोर की बारिश होने पर घोंगडी को बरसाती के रूप में भी इस्तेमाल किया जा सकता था। हां, जो चीज उन लोगों में से कोई भी ले जाना न भूला था वह थी सावले —यानी वह पवित्र वस्त्र जिसे उन्हें भोजन के समय पहनना अनिवार्य था। अपना सामान लेकर चलना यद्यपि उनके लिए कठिन नहीं था फिर भी उन्होंने घोड़े का प्रबन्ध स्वीकार कर लिया।

चिपलूण से पाटण लगभग अटठावन किलोमीटर दूर था और पाटण से सतारा भी अटठावन किलोमीटर था। यह दूरी उन्हें दो दिनो से भी कम समय म तय करनी थी। सौभाग्य से चिपलूण से आगे की सडक अच्छी थी। इसके अलावा घोड वाला उनके साथ था। वहा से ताजा दम होकर, नई आशा और ताकत से वह लोग आगे बढे। अपने गन्तव्य स्थल पर पहुचने के लिए समय के साथ यह एक प्रकार की दौड थी। अगले रोज दिन मे एक बजे वह पाटण पहुच गए। वहा के स्कूल के हैडमास्टर ने जब उन लोगो के आने की खबर सुनी तो वह उनसे मिलने गए और इस तरह उन लोगो का उत्साह बढाया। सडक से सतारा की दूरी अटठावन किलोमीटर थी। हैडमास्टर ने उन लोगो को नजदीक का एक रास्ता बताया। लेकिन वह रास्ता कठिन था और एक घाटी से गुजरता था यद्यपि उससे उन लोगो को उन्नीस किलोमीटर कम चलना पडता। लडको को सबसे ज्यादा चिंता इस बात की थी कि अगले दिन वह किस तरह सतारा पहुच सकेंगे। वह थक गए थे और चलने से उनके पैर दुखने लगे थे। अत कठिन होन पर भी नजदीक के रास्ते से जाने का निश्चय किया। लेकिन घोडे वाले ने इसका विरोध किया। उसने कहा कि घोडा बहुत थका हुआ है और घाटी का रास्ता बडा खतरनाक है। बडी मुश्किल से लडको ने उसे मनाया और अपनी यात्रा का अंतिम हिस्सा तय करने चल पड। हर कदम पर उनकी अधीरता और चिंता बढती जा रही थी। लेकिन बेचारे घोडे को क्या पता था कि उसके थके हुए पैर जितनी तेजी से चल सकते हैं, उससे भी ज्यादा तेज चलाना क्यो जरूरी है? पूरे दल म सिर्फ एक आदमी ऐसा था जो घोडे की अनिच्छा को समझता था और उसका समथन करता था और वह था स्वय घोडे का मालिक। लडको ने उसे तेज हाकने के लिए सब कुछ किया। उन्होने अपनी छडियो से उसे मारा भी। लेकिन यह मार भी घोडे की चाल बढा नही सकी। दल जब घाटी के बीचो बीच पहुचा तो चारों ओर अधरा घिर आया था। रास्ता सकरा था जिसके एक तरफ ऊची खडी चट्टान थी और दूसरी तरफ गहरी दरार। एक कदम आगे क्या है, यह भी दिखाई नही पडता था। कोढ म खाज की तरह घाडा गिर पडा और उसने चलने से इनकार कर दिया। घोडे वाला बेचारा क्या

करे ? न तो वह पग। घोड़े को वहां छोड़ सकता था, न अंधेरी रात में सन्नाटे में वहां ठहर ही सकता था। बच्चों ने एक बार फिर अपना सब कुछों पर अपना अपना सामान लादा और उस लाचार घोड़े को उस अंधेरे म सभवत मर ने क लिए छोड़ कर आगे चल पड़े। रात के लगभग ग्यारह बजे वह एक ऐसी जगह पहुंचे, जहां गड़रियों के कुछ झोंपड़े थे। उन झोंपड़ों को देखकर उनकी हिम्मत बढ़ी और कुछ देर सुस्ताने के लिए वहां रुक गए। उन्होंने सूर्योदय म पहले ही फिर अपनी यात्रा शुरू की, लेकिन इस घोड़े वाले ने आगे जाने से इनकार कर दिया। उन लोगों के पास इसके सिवा दूसरा कोई उपाय न रहा कि व उसे सतारा तक का पूरा किराया देकर वापस कर दें।

लगभग पांच बजे शाम को यह दल सतारा पहुंचा। उसी दिन से परीक्षाएं शुरू होने वाली थीं। उनकी यात्रा की अन्तिम लौ बुझने हो वाली थी, लेकिन उन्हें मालूम हुआ पहले दिन सिर्फ परीक्षार्थियों के नाम दर्ज हुए है। सतारा पहुंचते ही यह फौरन मुख्य में अपने एक परिचित से मिलने गए। वे वहां कलैक्टर के दफ्तर में क्लर्क था। वह परीक्षा-समिति के अध्यक्ष के पास ले गया। उन लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा जब उसने कहा कि अगले दिन सवेरे वह उनका नाम दर्ज कर लेगा। यह सुनकर लड़कों को यात्रा के सारे कष्ट भूल गए और वह रात भर गहरी नींद लेकर और ताजा होकर अगले दिन सवेरे परीक्षा भवन में पहुंच गए।

एक के बाद एक वह अध्यक्ष के पास गए और उसने उनके नाम रजिस्टर में दर्ज किए। अपनी बारी आने पर जब धोंडू अध्यक्ष के सामने पहुंचा तो अध्यक्ष ने पूछा, "तुम्हारी उम्र क्या है ?"

"मैंने अभी अभी सत्रहवां पूरा किया है।" धोंडू न उत्तर दिया। उसकी आवाज में घबराहट थी क्योंकि अध्यक्ष की आंखें उस पर थमी हुई थीं।

अध्यक्ष ने कहा "नहीं, मुझे विश्वास नहीं होता। तुम बहुत छोटे और कमजोर लगते हो।"

भय और निराशा से बचारे घोड़ू की आंखें डबडबा आईं। स्कूल से उसे उम्र का जो सार्टीफिकेट मिला था, वह उसके पास था, लेकिन अध्यक्ष को उसे देखने की फुर्सत न थी।

'तुम पन्द्रह से ज्यादा के नहीं हो सकते ।"

हिम्मत करके घोड़ू ने कुछ कहने की कोशिश की, 'लेकिन, जनाब ।"

"मेरा वक्त बरबाद मत करो। जाओ।" कहकर अध्यक्ष दूसरे उम्मीदवार की ओर घूम गया।

मुरुद से आए पांच छात्रों में से चार को परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल गई थी। अकेला घोड़ू ही रह गया था, जिसे स्वीकृति नहीं मिली थी, क्योंकि वह बहुत छोटा दिख रहा था। गहरी निराशा उसके मन को झकझोर गई। अपने को हजार बार कोसा और उसे लगा कि उसका भविष्य चौपट हो गया है। दूसरे लड़के कितने भाग्यवान हैं। अकेले उसी की किस्मत खोटी है।

लेकिन भाग्य की विडम्बना केवल उसी के लिए नहीं थी। अगले दिन चार लड़कों ने भी अनुभव किया कि सतारा आने की हमने जो तकलीफ उठाई वह व्यर्थ ही थी। पहले दिन गणित की परीक्षा थी और अगले दिन सिर्फ उन्हीं लोगों को परीक्षा में बैठने की इजाजत मिलने वाली थी, जो गणित में पास थे। दूसरे दिन जब घोड़ू के चारों साथी परीक्षा भवन में पहुंचे तो उन्हें बताया गया कि वे फेल हैं। किस्मत ने सिर्फ घोड़ू का ही मजाक नहीं उड़ाया था।

लड़कों का अब सतारा में रुकने का कोई काम न था। उन लोगों ने अपना सामान और बची हुई थोड़ी-बहुत हिम्मत बटोरी और घर की ओर चल पड़े।

यौवन और महत्वाकांक्षा जब एक दूसरे का हाथ थाम लें तो फिर उन्हें अलग करना आसान नहीं। घोड़ू नवयुवक था और उसके युवा हृदय में महत्वाकांक्षा तो थी पर वह बहुत बड़ी नहीं थी। बस इतना ही कि वह सार्वजनिक परीक्षा पास करके टीचर्स ट्रेनिंग सार्टीफिकेट प्राप्त करने की योग्यता पा ले। इसलिए वह दूसरे मौके का इंतजार करने लगा। समय बीतता गया और फिर

अगली परीक्षा की तिथि आ पहुंची। इस बार एक सतारा जाने की बात नहीं सोच सका। उम्र में उससे चौदह साल बड़े, उसके चचेरे भाई गंगाधरपंत कर्वे भी उस परीक्षा में शामिल होना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने कोल्हापुर जाने का निश्चय किया था। घोंडू उन्हीं के साथ चला गया। इस बार वह ज्यादा खुशकिस्मत था। परीक्षा में कोई रुकावट या बाधा नहीं आई और उसके पर्चे खासे अच्छे हुए। उसे उत्तीर्ण घोषित किया गया।

बचपन में और जवानी में भी धोंडो केशव कर्वे को अनेक कठिन परीक्षाओं में से गुजरना पड़ा। उन्होंने कई बार स्वीकार किया कि यद्यपि वह स्वभाव से भीरु थे तथापि उनकी अन्तरात्मा बड़ी प्रबल थी। शायद कठिनाइयों का सामना करने के कारण ही उन्हें वह मानसिक शक्ति प्राप्त हुई थी जिससे वह हर स्थिति को अधिकाधिक सफलता से झेलते रहे। धोंडू संकोची थे, लेकिन काम करने, मशक्कत करने और कष्ट सहने की उनकी शक्ति अपरिमित थी। उन प्रारम्भिक दिनों में उनके मन में अध्ययन करने और ज्ञान प्राप्त करने की बड़ी गहरी लालसा थी। यह लालसा किसी स्वार्थ से प्रेरित नहीं थी। वह ज्ञान को इसलिए प्राप्त करना चाहते थे कि वह मनुष्य को अच्छाई सिखाता है। अच्छा मनुष्य बनना और अच्छे काम करना ही उनका लक्ष्य था।

अपने भविष्य के बारे में उनके विचार विनम्र थे। स्कूल या कालेज में शायद ही उनके मन में कभी विचार उठा हो कि बड़े-बड़े काम करें और यश कमाएं। अब तक अनुभव से वह सीख चुके थे कि सफलता और असफलता को किस तरह निर्लिप्त भाव से देखना चाहिए।

सतारा से लौटने के बाद और सार्वजनिक परीक्षा पास करने से पहले ही घोंडू को अंग्रेजी सीखने का मौका मिल गया। सत्रह साल की उम्र तक वह अंग्रेजी का एक भी शब्द नहीं जानता था और उस जमाने में भी अंग्रेजी के थोड़े-बहुत ज्ञान के बिना कोई भी ज्ञान परिपूर्ण नहीं समझा जाता था। पांडुरंग दाजी बाल ने अंग्रेजी की एक कक्षा शुरू की थी। वह अपने छोटे भाई को अंग्रेजी सिखाने के लिए चिंतित थे। घोंडू भी वहां जाने लगा। श्री बाल ने अपने भाई के लिए बंबई से एक अध्यापक बुलाया था।

अध्यापक ने मैट्रीक्युलेशन तक की पढाई पूरी कर ली थी और प्रारम्भिक दर्जों मे अंग्रेजी पढाने के लिए काफी योग्य समझा जाता था। इस नई कक्षा के लिए मुरुद में बड़ा उत्साह था। इस तरह सामने आए सुयोग को कर्वे ने अपने जीवन का मोड समझा। यदि उसे यह सुयोग प्राप्त नहीं होता तो उसने छठवें दर्जे की परीक्षा को ही अपने ज्ञानार्जन की अंतिम सीमा समझ लिया होता और प्राइमरी स्कूल का अध्यापक बनकर संतोष कर लिया होता। सतारा मे उसे जिस दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा, वह एक प्रकार से छिपा हुआ वरदान साबित हुआ—न सिर्फ उसके लिए, बल्कि सारे भारत के लिए और विशेषकर भारतीय महिला समाज के लिए।

उसने दो बरसों तक असीम उत्साह से अंग्रेजी सीखी और इस अवधि के अंत तक तीन कक्षाओं की पढाई पूरी कर ली। अब उसके लिए जरूरी था कि या तो रत्नागिरि जाए या बंबई। वह कहीं भी जाकर किसी भी हालत में रहने को तैयार था। लेकिन खर्च को चलाने का जरिया क्या होगा? उसे लगा कि घर से बाहर जाने पर उसके पिता के लिए उसके खर्च का भार उठाना सम्भव न होगा। वह चुप रहा और आगे की पढाई के लिए घर से बाहर जाने की इच्छा उसने प्रकट न होने दी। लेकिन केशोपंत अपने लड़के की महत्त्वाकांक्षाओं को जानते थे। उन्होंने उसे सब तरह का प्रोत्साहन देने का निश्चय किया और उसे रत्नागिरि भेजने के लिए अपने बहनोई से कर्ज लेने का निश्चय किया। धोंडू की खुशी का ठिकाना न रहा। वह रत्नागिरि पैदल पहुंच गया और तीसरी कक्षा मे नाम लिखा लिया। वहां उसका कोई रिश्तेदार नहीं था जिसके साथ वह रहता। कुछ समय तक अपने मित्र रामभाऊ जोशी के साथ उसके चाचा वामन आबाजी मोडक के घर में टिक गया। लगभग एक महीने बाद उसने एक कमरा लिया और होटल में खाने लगा।

प्राय दो महीनों मे सालाना इम्तहान हुआ। उत्तीर्ण छात्रों मे उसका पांचवां स्थान था और उसे ऊपर की कक्षा मे चढा दिया गया। उसे दो रुपए महीने का वजीफा भी मिलने लगा, जिससे स्कूल की फीस चुकाने का इंतजाम हो गया। सारी बातें उसके मनोनुकूल हो रही थीं और उसे लग रहा था कि पढाई बिना विघ्न बाधा के चल जायेगी। पर अभी तीन महीने भी न बीते

होगे, उसे बुखार न आ घेरा और कुछ हफ्तों तक छूटने का नाम ही न लिया। हार कर उसे रत्नागिरि छोडकर घर जाना पड़ा। उस समय उसे लगा कि वह न सिर्फ रत्नागिरि से जा रहा है बल्कि अंग्रेजी की अपनी सारी पढ़ाई की योजना से ही विदा ले रहा है।

घोंडू कुछ समय तक मुरुड के प्राइमरी स्कूल मे पाच रुपए मासिक पर अध्यापक रहा। यह उसका सौभाग्य था कि घोंडोपन्त मंडलीक की सहायता से वह अंग्रेजी का अध्ययन जारी रख सका। उनसे उसने कुछ अंग्रेजी की किताबें लीं जिन्हे वह फुर्सत के समय पढ़ता था।

कुछ महीनो के बाद उसके मित्र छुट्टियां बिताने के लिए बम्बई से आए। उन्होने उसे अपने साथ बम्बई लिवा ले चलने का वादा किया। घोंडोपंत की सहायता से प्राप्त किया हुआ अंग्रेजी का ज्ञान उसके लिए बबंई के राबर्ट मनी स्कूल की पाचवी कक्षा मे प्रवेश पाने मे सहायक हुआ।

अध्याय 3

बम्बई के स्कूल और कालेजो में

बम्बई एक बिलकुल ही नई जगह थी, लेकिन धोडू बिना किसी खास दिक्कत के नए वातावरण मे रहने का आदी हो गया। मुरुद के लडको ने मिलकर किराए का एक कमरा ले लिया था, जिसमे धोडू भी शामिल हो गया। भोजन वह नागोपंत दातार के भोजनालय मे करता था। भोजन बुरा नही था। कुछ हफ्तो बाद वह मुरुद के अपने मित्र परशुराम पत दामले के यहा खर्च देकर रहने-खाने लगा। दामले मुगभट मे आग्रे की चाल में रहता था।

उसके आवास के ठीक सामने एक विशाल भवन था, जिसमे एक धनी सज्जन रहते थे। वह सगीत के प्रेमी लगते थे, क्योकि हर शनिवार की रात को उनके यहा सगीत गोष्ठी हुआ करती थी। अपने बिस्तर पर पडा धोंडू काफी रात गए तक जागता रहता और प्रसिद्ध नर्तकी कृष्णी भुल्पी और उसकी बेटी श्यामी के सगीत की मधुर स्वर-लहरियो मे खोया रहता। शनिवार की रात से अगले शनिवार की रात तक उसके कानो मे वे लहरिया गूजती रहती और वह खाली वक्त मे मन-ही मन बडे प्यार से उनको दुहराने की कोशिश किया करता। यह उसका एक आनन्ददायक मन बहलाव था लेकिन उसके मन मे किसी सगीत गोष्ठी या कीर्तन मे भी जाने की बात कभी न उठी। वह दत्तचित्त हो कर अपनी पढाई मे लगा रहता और दीर्घ काल तक निरन्तर सन्यासी जैसा कठोर जीवन व्यतीत करता रहा।

राबर्ट मनी स्कूल मे उसको वजीफे भी मिले। लेकिन इसके लिए उसे अपनी हस्तलिपि सुधारने मे बडा कठोर, बल्कि कष्टकर परिश्रम करना पडा,।

क्योंकि प्रारम्भ मे सभी जानते थे कि उसकी लिखावट कतई अच्छी न थी। यह सुधार ऐसा आश्चर्यजनक था कि एक परीक्षा मे कुछ विरोधी छात्रो ने उसके खिलाफ एक कहानी गढ ली। उन्होने अध्यापक श्री जैक्सन से कहा कि धोंडू ने अपने मित्र दामले से लिखवा कर कापी पेश की है। दामले अपने सुलेख के लिए मशहूर था। श्री जैक्सन ने आसानी से इस कहानी को मान लिया और सच झूठ की जाच करना भी जरूरी नही समझा। उन्होने धोंडू का अपराधी मान कर अपनी मेज के पास बुलाया। जिस द्वेषपूर्ण भावना से उस पर यह तोहमत लगाई गई थी, उससे धोंडू का मन पहले ही भर आया था। श्री जैक्सन इस बात पर जोर देते थे कि लड़के उनसे सिर्फ अंग्रेजी मे ही बात करें। धोंडू इतना सकोचपूर्ण तथा घबरातुर था कि अंग्रेजी मे बिल्कुल बात न कर सका। लज्जा से उसका हृदय इतना भर आया था कि अंग्रेजी तो दूर रही वह मराठी भी न बोल पा रहा था। निर्दोष होते हुए भी वह एक ऐसे अध्यापक के सामने खड़ा था जो गुस्से से भरा और हाथ मे बेंत लिए था। ये कुछ क्षण धोंडू की हजारो मोतो के समान थे। उस समय वह इक्कीस साल का था। क्या इस उम्र मे भी उसे उस अपराध के लिए बेंत की सजा भुगत कर शर्मिंदगी उठानी पडेगी जिसे उसने किया ही नही? निहायत लाचारी की हालत मे उसने अपना हाथ उठाया, लेकिन इससे पहले कि वह सजा लेने के लिए उसे आगे बढाए वह हाथ अपने आप उसके माथे से जा लगा। श्री जैक्सन बात-की बात मे उसका सकेत समझ गए। उन्होने बेंत नीचे झुका लिया और पूछा, "क्या तुम इस कापी को फिर लिख सकते हो?"

उनकी आवाज मे जो कोमलता थी, धोंडू को उससे बल मिला। उसने तत्काल उत्तर दिया कि मैं न सिर्फ दुबारा लिख ही सकता हूँ बल्कि आप के सामने लिखने को तैयार हू। तब उससे कहा कहा गया कि तुम अपनी कक्षा मे जाओ। उसने वैसा ही किया और अपने कक्षाध्यापक के सामने कापी दुबारा लिखने लगा। यद्यपि यह लिखावट उतनी अच्छी न थी, फिर भी उसके पहले की लिखावट से इतनी ज्यादा अच्छी थी कि सदेह की गुजाइश ही नही रह जाती थी। श्री जैक्सन को पूरा सतोष हो गया और धोंडू दोष मुक्त हो गया।

महर्षि कर्वे ने अपने सस्मरणों म इस घटना का उल्लेख अपनी खामी के एक दृष्टान्त रूप मे किया है। इस पर उनकी अपनी टिप्पणी यह थी कि अगर मैं इतना डरपोक और शर्मीला न होता तो मैं खुद ही अपनी निर्दोषिता साबित करने के लिए श्री जैक्सन के कुछ कहने से पहले फिर से कापी लिख कर अपना सुलेख दिखाने की बात कहता।

उन दिनो सातवी कक्षा को मैट्रिकुलेशन माना जाता था। जब धोंडू सातवें दर्जे मे गया, तब उसकी मुलाकात नरहर बालकृष्ण जोशी से हुई। वह कई कारणो से उसके साथ मित्रता को बडा कीमती मानता था जिसकी उसके मन और समूचे जीवन पर अमिट छाप पडी। उसी साल नरहर पत ने भी मैट्रिकुलेशन परीक्षा दी थी, लेकिन किसी की लापरवाही से उसकी अग्रेजी की उत्तर-पुस्तिका खो गई। जब वह सभी उपाय कर के हार गया तभी उसने नियति को स्वीकार किया। और अगले साल फिर परीक्षा देने की तैयारी की। इसके पूव वह न केवल राबट मनी स्कूल के प्रिंसिपल कास से मिला बल्कि विश्वविद्यालय के रजिस्टार के पास भी कई बार गया। रजिस्ट्रार ही परीक्षा की व्यवस्था करते थे। खोई हुई उत्तर पुस्तिका नही मिली। नरहर पत को अपने अपमान की अनुभूति तो हुई ही, साथ ही एक साल की बरबादी बडी खलन लगी। नए सत्र मे जब उसन फिर से सातवी कक्षा मे नाम लिखाया, तो छठी कक्षा से उत्तीण हो कर आए छात्रो मे उसे धोंडू मिला। धोंडू की प्रतिभा और अध्ययनशील प्रकृति ने उसे आकृष्ट किया। बहुत जल्दी वे मित्र बन गए और मिलकर स्वाध्याय करने लगे। नरहर पत का सकल्पशक्ति और उसके दूसरो के सद्भाव पाने के ढग का धोंडू पर गहरा असर पडा। जेब मे बिना एक धेला लिए नरहरपत बम्बई आया था। उसके शहर देवरुख के एक सज्जन वहा हाईकोट मे काम करते थे। उन्होने उसे अपने यहा ठहरने की इजाजत दे दी थी। नरहरपत उनके सब तरह के काम कर दिया करता। वह मधावी था और उस छात्रवृत्तिया मिली जिनसे वह बम्बई मे खच चला लेता।

वहा कावसजी पटेल टैंक के पास ईसाई छात्रो का एक छात्रावास था।

उसके अधीक्षक श्रद्धेय जानी अली नाम के एक इस्लाम से धर्मान्तरित हुए ईसाई थे । नरहरपंत ने उन्हें खुश कर लिया और उनसे छात्रावास में एक बड़ा कमरा पा लिया । उसने घोंडू को भी वहीं बुला लिया और दोनों उस कमरे में अध्ययन करने लगे । शाम को भोजन के बाद वे वहीं मिल जुल कर पढ़ा करते । वहीं सोते भी थे । सवेरे भी दो एक घण्टे उसी कमरे में पढ़ते और उसके बाद अपने डेरों को लौट जाते ।

नरहर पंत में कई ऐसी बातें थीं, जिनका घोंडू प्रशंसक था । घोंडू ने उन्हें श्रद्धेय जानी अली और प्रिंसिपल वास से धर्म के बारे में खुल कर बहसें करते सुना था और उसके तर्कों से बहुत कुछ सीखा था । यद्यपि नरहर पंत अपने मित्र को अपनी निर्भीकता और साधन-सम्पन्नता का एक अंश भी न दे पाया लेकिन घोंडू के रूप में उसे एक ऐसा शिष्य अवश्य मिला, जिसने दीर्घ-काल तक होने वाली आपसी बातचीत में बाद में अपने बहुत-से पुराने विचारों और विश्वासों को धीरे धीरे छोड़ दिया । शुरू-शुरू में नरहरपंत को श्रद्धेय अली या प्रिंसिपल वास का छुआ पानी पीता देखकर घोंडू को बड़ा धक्का सा लगा था, लेकिन बाद में वह खुद भी वैसा ही करना सीख गया ।

घोंडू के पढ़ने के लिए बम्बई जाने पर एक साल के अन्दर ही उसके पिता केशोपंत का देहान्त हो गया । बरसात का मौसम था । दादा ने पिता की बीमारी का खबर घोंडू को नहीं दी क्योंकि बरसात के कारण यात्रा करना बड़ा कठिन था और उसे इस बात का भी ध्यान था कि भाई की पढ़ाई में बाधा पड़ेगी । केशो पंत की आखिरी बीमारी बहुत थोड़े दिनों तक रही । उनकी मृत्यु की खबर मिलने पर घोंडू का दिल दुःख से भर गया और पिता जी की आखिरी बीमारी के समय उनकी रोग शय्या के पास उपस्थित न रह सकने के लिए उसने अपने आपको बहुत कोसा । जब उसने भविष्य के बारे में सोचने की कोशिश की तो वह उसे बड़ा अन्धकारपूर्ण लगा । इस तरह अचानक पिता का साया उठ गया, उनकी सहायता से वंचित हो जाने पर अब उसे क्या करना होगा और परिवार में उसे क्या स्थान ग्रहण करना होगा, यही सब वह सोचता रहा ।

केशोपंत का देहान्त श्रावण मास मे नागपंचमी के दिन हुआ था। उन का पुत्र लगभग दस सप्ताह तक मुरुद न लौट सका और इसलिए परिवार के लोगो से न मिल सका। वह उनसे कही दीवाली की छुट्टियो मे मिल पाया। दादा तो वहा था ही। उन लोगो ने भविष्य की योजनाएं बनाई। जाहिर था कि ये बड़े कठिन दिन थे। कुछ समय तक तो वे यह समझ ही नही सके कि इन परिस्थितियो का सामना कैसे किया जाए। इस अंधकार और निराशापूर्ण समय मे उनकी मा ने ही उन्हे धीरज बधाया और उनके मन को मजबूत किया— शब्दो से नही, बल्कि अपने उदाहरण से। पति की बीमारी के आखिरी दिनो में उन्होंने अद्भुत धैर्य का परिचय दिया था। यहा तक कि जब यह पता चल गया कि केशो पंत का अन्त निकट है, तब भी उन्हो धीरज नही खोया। वह घर की पूरी साज-संभाल करती हुई, मरणासन्न रोगी की देखभाल करती रहीं। जब कभी उन्हे थोडी फुरसत मिलती वह परिवार के इष्ट देवता के सामने प्रार्थना भी किया करतीं कि मुझे कठिनतम परिस्थिति आने पर उसको सहने की शक्ति दो। वह परिस्थिति प्राय अड़तालीस घण्टो बाद आई और उस समय भी वह पूरी तरह से शान्त बनी रही। विधवा हो जाने पर जिन बीभत्स धार्मिक कृत्यो का अनुष्ठान करना पड़ता था, उनका विरोध करना उनके वश की बात न थी, और उन्होने सिर मुडाने की पीडा और अपमान को, बिना आह भरे ही सह लिया। दादा और धोंडू ने सर्वप्रथम उस समय अनुभव किया कि उनकी मा उनके लिए कसी शक्ति का आधार स्तम्भ है। वैसा अनुभव उन्होने पहले कभी नही किया था। इन लोगो ने मा के कहने के अनुसार ही सारा काम किया। निश्चय हुआ कि दादा वाकोट की नौकरी छोड दे और मुरुद मे ही कोई काम करे, जिससे वह परिवार के साथ रह सके। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि बम्बई मे धोंडू की शिक्षा दीक्षा बिना विघ्न बाधाओ के चलती रहे। कुछ शुभचिन्तकों ने यह भी सलाह दी कि बम्बई में कुछ धनी मानी लोग मुफ्त मे कई दिनो मे गरीबो को मुफ्त खाना खिलाते हैं (जिसे 'वार' कहते है)। अगर धोंडू वहा खाना खा लिया करे तो इस मद मे खर्च कुछ घट सकता है। लेकिन इस सुझाव को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया गया और इसके बदले कठोर

मितव्ययिता का सहारा लेने का निश्चय किया गया । उम्मीद की गई कि इसमें धोंडू अपने खर्च में चार रुपए महीने की कमी कर सकेगा । जरूरत पड़ने पर धोंडू के मामा श्री पराजपे से कुछ कर्ज लिया जा सकता था । उनकी सभी तरह से सहायता करने के लिए श्री पराजपे खुशी से तैयार हो गए । अगले दो वर्षों में श्री पराजपे से कर्ज के रूप में दो सौ रुपए लिए भी गए ।

यद्यपि ये दिन सादगी के थे पर उनमें भी कुछ हल्कापन और आमोद प्रमोद मिल ही जाता था । गर्मी की छुट्टियों के पांच या छः हफ्ते धोंडू ने मुरुद में बिताए, जो मजे मजे से बीते । धोंडू नाटकों का शौकीन था और बचपन से ही वह नाटकों में भाग लेता आया था । शुरू शुरू में केशो पंत ने अपने बेटे के चेहरा रंग कर रंगमंच पर जाने और तरह-तरह के पात्रों का अभिनय करने के विचार को पसंद नहीं किया था । लेकिन धोंडू ने किसी न किसी तरह पिता को समझा लिया था कि पूना जैसी जगह में और डेक्कन कालेज जैसी संस्थाओं में भी छात्रों को ऐसे मनोरंजनों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है । वह आम तौर पर ऐसे आयोजनों में सबसे आगे रहता । एक बार वह बम्बई से दो रंगमंच के पर्दे भी ले आया था । धोंडू की प्रतिभा का प्रयोग न केवल नाटक की प्रस्तावना में गणपति का अभिनय करने में ही होता था (जिसमें वह संस्कृत में बोलता था) बल्कि वह संस्कृत में कथोपकथन भी लिख लेता था । एक बार उसने पर्दे की ओट से राधा का संवाद प्रस्तुत किया तो उसकी प्रसिद्धि और बढ़ गई । उसके अविस्मरणीय अभिनयों में से एक संस्कृत के नाटक 'वेणी संहारम्' के कुछ दृश्यों में अश्वत्थामा का अभिनय था ।

दादा ने चार रुपए महीने भेजने का वादा किया था, लेकिन इतने से धोंडू की मुश्किल से गुजर होती । इससे ज्यादा वह भेज नहीं सकता था, क्योंकि उसकी अपनी मासिक आमदनी सात-आठ रुपये से ज्यादा नहीं थी । धोंडू अपने भाई का बोझ भरसक हलका करना चाहता था । बम्बई लौटने के बाद, जल्दी ही उसने अपने लिए कुछ ट्यूशन जुटा लिए । अपने एक सह-

पाटी के छोटे भाई को प्रतिदिन एक घंटा पढ़ाने के लिए उसने महीने के अन्त में कम-से-कम दो रुपयों की उम्मीद की थी। लेकिन उसे मिला सिर्फ एक ही रुपया। पर उस रकम को पाकर भी उसका हृदय खुशी से भर गया। बम्बई आने के बाद यह उसकी पहली कमाई थी। फिर भी अगले दिन से उसने पढ़ाना छोड़ दिया। जल्दी ही उसे एक या दो ट्यूशन और मिल गए। उससे कुछ अधिक पैसे भी मिलने लगे। एक सज्जन हर रविवार को उससे 'नवनीत' (पुरानी मराठी कविताओं का संकलन) की कविताएं पढ़ने आया करते थे। वह उसे हर बार के दो आने देते। इस तरह उसकी माहवारी आमदनी में आठ आने और बढ़ गए। पांचवीं और छठी कक्षा में उसे प्रथम छात्रवृत्तियां मिली थीं लेकिन सातवीं में उसे द्वितीय तथा कुछ दिनों तक तृतीय छात्रवृत्ति मिली। दादा जो कुछ भेजता, उसमें यह सब मिला कर उस का काम मजे में चल जाता। धीरे धीरे वह अपनी क्षमता और योग्यता पर अधिक विश्वास करने लगा। जब उसने पहले ही प्रयत्न में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास कर ली तो उसे लगा कि वह और भी बहुत कुछ कर सकता है तथा बड़ी सफलताएं पा सकता है। चार साल पहले उसने सपने में भी सोचा न था कि वह मैट्रीक्युलेशन की परीक्षा पास कर सकेगा।

अपने जीवन के आगामी काल में प्रोफेसर कर्वे ने अनेक आश्चर्यजनक और महत्वाकांक्षी योजनाओं की कल्पना की और उन्हें उल्लेखनीय सफलता के साथ पूरा किया। लेकिन स्कूल में उन शुरू के दिनों में तो वह एक कदम भी आगे न देख सकते थे। प्रतिदिन हर समय, अगला कदम उठाने में उन्हें घबराहट होती। लेकिन उनमें आशा की कमी न थी। बल्कि उस घबराहट तथा आत्मसंशय के बीच भी उनमें दृढ़ निश्चय था। कठिन मार्गों पर वह आगे बढ़ते गए। अपनी मां और बड़े भाई के प्रोत्साहन और सहायता से उनका मार्ग सुगम होता गया।

मां और दादा ने परिवार की जिम्मेदारियां संभाल कर धोंडू की अविच्छिन्न शिक्षा का मार्ग सुगम बना दिया था। उसके लिए वे अविस्मरणीय दिन थे। यद्यपि उसे हर कठिनाई का सामना करना पड़ता और वह कसौटी

पर कसा जाता किन्तु उनसे उसके धैर्य और उत्साह की मात्रा ही बढ़ी। विद्योपार्जन करते हुए ही उसके भावी जीवन की नींव पड़ी जिसमें समाज की सेवा करना और उसको शिक्षा प्रदान करना उसका प्रधान काम बनने वाला था। इसी काल में उसका जीवन-लक्ष्य भी निर्धारित होने लगा। इस आगामी कार्यक्रम के मूल में त्याग, पारस्परिक सहायता, प्रीति और आराधना ही थे।

उसके जीवन के इस भव्य शिलान्यास में जिनका योगदान था, वे थे उसके पिता-माता, भाई और बहन अम्बाताई। दादा और अम्बाताई से उसने धैर्य की महान सीख तो पाई ही, साथ ही एक उससे भी बड़ी सीख यह मिली कि सभी परिस्थितियों में मस्तिष्क का संतुलन बनाए रखना चाहिए। उसे किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति की याद नहीं थी जिसने उस पर दादा से अधिक कृपा की हो। अंबाताई यद्यपि विद्यालयों में नहीं पढ़ी थी, फिर भी उसके सुलझे हुए मस्तिष्क और उदात्त दृष्टिकोण का धोंडू हृदय से आदर करता था।

एक और ऐसा व्यक्ति था जिसका योगदान उसके चरित्र निर्माण में कम नहीं था। धोंडू केशव कर्वे और नरहर बालकृष्ण जोशी का दस से भी अधिक वर्षों तक निरन्तर अत्यन्त निकट का साथ रहा। बाद में भी उन्होंने साथ ही डेरा बनाया। अपने सहवास में नरहर पंत ने धोंडू की अध्ययनशीलता को बढ़ावा दिया और उन दोनों ने साथ साथ बहुत सी पुस्तकें पढ़ीं। उनमें से एक थी आर० डब्ल्यू० ट्राइन की 'इन ट्यून विद द इनफिनिट।' श्री जोशी ने बाद में इसका मराठी में अनुवाद किया। वह जो कुछ बोलते वह सुविचार और सुचिंतन का परिणाम होता था जिससे धोंडू को मनन के लिए सामग्री मिलती थी। प्रोफ़ेसर कर्वे ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि नरहर पंत के प्रभाव से ही जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण पर्याप्त विस्तृत और तर्कसंगत बना।

विल्सन कालेज के प्रिंसिपल डा० मैकिचन प्रतिभाशाली छात्रों को हमेशा अपने कालेज में ले आना चाहते थे। मैट्रिक्युलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों के बीच केशव कर्वे का स्थान सोलहवां था। उनके मित्र नरहर पंत तीसरे स्थान पर थे। डा० मैकिचन ने श्रद्धेय जानी अली द्वारा छात्रवृत्ति का आश्वासन दे

कर उन्होंने और कर्वे दोनों को अपने कालेज में पढ़ने के लिए राजी कर लिया।

मैट्रिकुलेशन में उत्तीर्ण हो जाने के बाद ही कर्वे के मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुआ और उसने आशा करनी प्रारम्भ की कि वह विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। वह नरहर पंत की सहायता से उन लोगों से पाठ्य पुस्तकें जुटाने में सफल हो सका जो पूर्वार्द्ध (विश्वविद्यालय की प्रथम वर्ष) की परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके थे। उन दिनों विल्सन कालेज जहां था उस सड़क का पुराना नाम गिरगाव बैक रोड था। नरहरपंत ने जोशीराव शर्मा की चाल के सबसे ऊपर वाले तल्ले पर, पौने चार रुपए महीने किराए पर, दो कमरे ले लिए। यह मकान कालेज के बहुत पास था। नरहर पंत अपनी पत्नी को भी बम्बई ले आया और वहीं उन्होंने अपना घर बसाया। उसका छोटा भाई वामन भी उन्हीं के साथ रहने लगा। कर्वे उन लोगों को अपने रहने खाने का खर्चा देकर वहीं रहता था। जोशी और कर्वे दोनों ही को छात्रवृत्तियां मिली थीं। निजी तौर पर ट्यूशन से भी वे काफी कमा लेते थे। अपने मामा श्री परांजपे से लिया हुआ कर्ज भी चुकाना पड़ता था। इसलिए वह बड़ी मेहनत करता। उसे जितने ट्यूशन मिले, उसने उन सबका करना स्वीकार कर लिया। कालेज का कोई छात्र कई घंटों तक ट्यूशन करने के बाद अपनी पढ़ाई में पर्याप्त ध्यान कैसे दे सकता है? कर्वे ने शायद ही कभी इस समस्या पर विचार किया क्योंकि वह तो अपनी पढ़ाई का बहुत-कुछ हर्ज करके भी जल्दी से जल्दी कर्ज चुकाने पर तुला हुआ था। उस कर्ज की पूरी रकम, दो सौ रुपयों को उसने कालेज की शिक्षा पूरी करने से पहले ही चुका दिया।

जिन दिनों कर्वे और जोशी विल्सन कालेज में थे, उन्होंने एल्फिंस्टन कालेज के प्रिंसिपल डा० वर्ड्सवर्थ के बारे में बहुत कुछ सुना था। डा० वर्ड्सवर्थ कवि विलियम वर्ड्सवर्थ के पोते थे। वह छात्रों के अभिभावक बन गए थे। काव्य पढ़ते समय वह अपने छात्रों को मन मुग्ध कर देते। जहां डा० वर्ड्सवर्थ प्रधानाचार्य हों, उस संस्था में पढ़ना लोग अपना सौभाग्य मानते थे। कभी

कोई छात्र उनका ध्यान आकर्षित कर उनसे परिचित हो पाता तो इसे वह अपने लिए बड़े गौरव की बात समझता था। जोशी, कर्वे और दो अन्य छात्रों ने पूर्वार्द्ध परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद एल्फिंस्टन कालेज में ही जाने का निश्चय किया। विल्सन कालेज से स्थानान्तरण पत्र पाना बड़ा कठिन था, लेकिन उनके सौभाग्य से डा० मैकिचन छुट्टी पर स्काटलैंड गए हुए थे। वह होते तो ऐसे दो छात्रों को दूसरी जगह जाने की अनुमति न मिलती जिन्होंने पूर्वार्द्ध परीक्षा में द्वितीय श्रेणी में अच्छे अंक प्राप्त किए थे। वैसे तो तत्कालीन स्थानापन्न प्रिंसिपल श्रद्धेय स्कॉट हार्ट भी बहुत नाराज हुए लेकिन कहने सुनने पर चारों छात्र कालेज छोड़ने का प्रमाण पत्र पाने में सफल हो गए। कर्वे के प्रमाण पत्र में, जिस पर दिसम्बर 1882 की तारीख पड़ी है लिखा गया—'किसी अपराध के कारण नहीं, बल्कि स्वेच्छा से कालेज छोड़ा।' डा० वर्ड्सवर्थ की उन लोगों पर बहुत कृपा थी। उन्होंने अपने कालेज में उन्हें दाखिल कर लिया और फौरन उनका शुल्क भी पूर्ण माफ कर दिया। आम तौर पर निःशुल्क पढ़ने का अधिकारी वही छात्र होता था, जिसने कम-से-कम एक सत्र तक उसी कालेज में पढ़ कर संतोषजनक प्रगति दिखाई हो। यहां भी नरहर पंत ने ही अपने सभी मित्रों के लिए डा० वर्ड्सवर्थ की सहानुभूति और अनुग्रह प्राप्त करने के लिए सब कुछ किया।

एल्फिंस्टन कालेज उन दिनों विक्टोरिया गार्डन के सामने, बायकुला में था। कर्वे और जोशी को स्थानीय रेलगाड़ी से वहां जाना पड़ता था। थोड़े से पैसे बचाने के लिए उन्होंने चर्नी रोड स्टेशन के बदले ग्रांट रोड से पूरे मास का टिकट ले लिया था। जाड़ों में तो वह मासिक टिकट भी न लेते थे और गिरगाव से कालेज तक आने-जाने की समूची दूरी पैदल ही तय करते थे।

कर्वे का विशेष अनुराग गणित में था जिसे उन दिनों प्रोफेसर जे० हैथोर्नथवाइट पढ़ाते थे। वह आक्सफोर्ड की ठेठ पिछली पीढ़ी के छात्र थे और कालेज की दीवारों के पीछे सुरक्षित रहनेवाले कैम्ब्रिज के कायरों का' उल्लेख करने में बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। यद्यपि कर्वे एक महान अध्यापक के रूप में डा० वर्ड्सवर्थ की ख्याति सुन कर एल्फिंस्टन कालेज की ओर आकृष्ट हुए थे, लेकिन उनके व्याख्यानों को समझना उनके लिए मुश्किल

कर्वे ने 1884 ई० में एल्फिन्स्टन कालेज से गणित लेकर बम्बई विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा पास की। यद्यपि बाद में उनको इससे भी बड़ी बड़ी सफलताएं हुईं, लेकिन इसे वह विशेष सन्तोष के साथ याद करते रहे। जब वे मुरुड के प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे तो छठी कक्षा की सार्वजनिक परीक्षा पास करना ही उनकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी, रत्नागिरी स्कूल में पढ़ते तो सोचते थे कि अगर मैंने मैट्रिकुलेशन पास कर लिया तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली हूंगा। अब वह ग्रेजुएट थे। उन्होंने अपने स्कूल और कालेज में बिताए हुए वर्षों की ओर एक निश्चित सन्तोष के साथ देखा।

अब वह सत्ताईस वर्ष के थे। नरहर पंत ने कानून पढ़ने का निश्चय किया और चाहते थे कि उनका मित्र कर्वे भी इसमें साथ देता। लेकिन कर्वे ने पहले ही अपना मार्ग तय कर लिया था। उनका ख्याल था कि कानूनी पेशे में वह कभी सफलता नहीं पा सकेंगे। इसलिए वह एम० ए० की डिग्री लेना चाहते थे, लेकिन उसके लिए उनमें विशेष उत्साह नहीं था।

कालेज-जीवन के आखिरी छः महीनों को छोड़कर नरहर पंत जोशी और धोंडू केशव कर्वे बराबर साथ रहे। इन छः महीनों के लिए नरहर पंत ने पत्नी को घर भेज दिया और स्वयं कालेज के छात्रावास में एक कमरा लेकर रहने लगे ताकि अन्तिम परीक्षा के पहले अपना सारा ध्यान पढ़ाई में लगा सकें। कर्वे ने इस परिवर्तन का लाभ उठाया और वह अपनी पत्नी राधाबाई

तथा ढाई साल के पुत्र रघुनाथ को बम्बई ले आए। इस तरह विवाह के दस से भी अधिक वर्षों के बाद पहली बार उनके आवास की ऐसी व्यवस्था हो पाई जिसे वह अपना घर कह सकें। रघुनाथ के जन्म से पहले कर्वे जब कभी मुरुद जाते अपना समय अपनी नववधू और अपनी बहन अबाताई को पढ़ाने में लगाते। मुरुद के लोगों के मन में उस समय लड़कियों को पढ़ाने का विचार ही नहीं उठता था, लेकिन कर्वे के माता पिता का दृष्टिकोण उदार था, उन्होंने उनको स्त्रियों को शिक्षा देने के इस सब प्रथम प्रयास में पूरी तरह प्रोत्साहित किया। दोनों लड़कियों ने काफी प्रगति की। जब कर्वे बम्बई में होते, उन दिनों उन दोनों को पढ़ाने का काम दादा सभाल लेते। सन् 1883 में रघुनाथ के जन्म-काल में कुछ समय तक इस कार्यक्रम में बाधा पड़ी, लेकिन जब राधाबाई आई तो उनके पति ने उन सूत्रों को फिर जोड़ लिया जो ढाई साल पहले बिखर गए थे और कुछ ही महीनों में वह बिना किसी कठिनाई के मराठी की कोई भी पुस्तक पढ़ने के योग्य हो गई। यहां तक कि उन्होंने अंग्रेजी की भी दो आरम्भिक पुस्तकें पूरी कर लीं। उनकी यह सब पढ़ाई उस थोड़े-से समय में होती थी जो कर्वे अपने व्यस्त समय में से किसी तरह निकाल कर उन्हें दे पाते थे।

अध्याय 4

अध्यापक

घोंडो केशव कर्वे के जीवन म उनके छात्र और अध्यापक के स्वरूप का सूक्ष्म विभाजन कठिन है। विल्सन कालज म छात्र क रूप में प्रवश के पहल ही एक निजी शिक्षक के रूप मे उन्होने काफी सफलता पा ली थी। यद्यपि यह एक कठिन काम था, लेकिन इस काय की कठिनाई का आभास पाने के पूव ही वह उसे पसद करने लगे थे। बी० ए० करने के बाद उन्होंने अध्यापन काय को ही आजीविका के उपाजन का साधन बनान का निश्चय किया। अब उनके जीवन का उददेश्य पर्याप्त स्पष्ट हो चुका था। उनका तात्कालिक प्रयोजन पूरे समय के लिए कोइ काम ढूढ लना था ताकि मुरुद का पारिवारिक खच बाटा जा सके और पिता की मत्यु के बाद दादा जिसे अकेले ढो रहे थे वह बोझ कुछ कम हो। लेकिन उनका आदश ऊचा था। उन्होने ऐसा पेशा चुना जिसका महत्वपूण अग दान था और दो के लिए विद्या से बढकर मूल्यवान कुछ नही होता। इसलिए अध्यापन को उन्होने केवल एक जीविकोपाजन के साधन रूप मे नही, बल्कि अपने जीवन के ध्यय के रूप मे चुना।

उस समय एलफिस्टन हाई स्कूल के प्रिंसिपल श्री वामन अवाजी माडक थ। कर्वे से उनका परिचय तब से था जब वे एक छात्र के रूप में रत्नागिरि में उनके घर पर रहे थे। बबई में भी उन्होने कर्वे को दो एक बार देखा था। उनके स्कूल में दो स्थान खाली थे—एक स्थायी और दूसरा अस्थायी। नरहर पत मे प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी अनुकूल छाप छोडने की स्वाभाविक क्षमता थी, इसलिए स्थायी स्थान पर उनकी नियुक्ति हो गई। कर्वे श्री माडक के पास अस्थायी जगह पर अपनी नियुक्ति के लिए गए।

श्री मोडक ने पूछा, "तुम्हारा क्या ख्याल है, क्या चालीस छात्रों की कक्षा को तुम पढ़ा सकोगे ?"

कर्वे घबरा गए। फिर भी यथा समय अपना पूरा साहस बटोर कर बोले, "जी, मैं समझता हूं, पढ़ा लूंगा—कम से कम कोशिश तो करूंगा ही।"

श्री मोडक बोले—"यह इतना आसान काम नहीं है, बेटे ! तुम तो इतने छोटे दिखते हो कि अध्यापक जान ही नहीं पड़ते।"

"लेकिन, श्रीमान्जी ।" कर्वे इससे अधिक न कह सके।

"मुझे अफसोस है, मैं तुम्हें नहीं ले सकता।"

कर्वे का दिल बुरी तरह बैठ गया। लेकिन वह हिम्मत नहीं हारे। एलफिंस्टन कालेज के प्रोफेसर हैथोर्नथ्वाइट जिनसे वह पढ़ चुके थे उन्हें बहुत अच्छी तरह जानते थे। वह उनके पास गए और श्री मोडक के साथ जो बातें हुई थीं, उन्हें दुहरा दिया। दयालु प्रोफेसर ने उन्हें दिलासा दिया और कहा कि तुम्हारे लिए मैं जो कुछ कर सकूंगा करूंगा। कुछ दिनों के बाद श्री मोडक ने कर्वे को बुलाया। कर्वे उनसे मिले और तब पता चला कि उनकी नियुक्ति हो गई है।

अध्यापक के रूप में स्कूल में उनका पहला दिन निराशाजनक नहीं था। उन्हें चौथी कक्षा पढ़ाने को मिली। उसमें चालीस छात्र थे। अनुभव शून्य होते हुए भी उन्हें संतोष रहा कि मैंने कक्षा को अच्छी तरह सभाल लिया।

प्रोफेसर हैथोर्नथ्वाइट ने कर्वे का फौज के कुछ अफसरों से भी परिचय करा दिया जिनके लिए गणित का ज्ञान जरूरी था। कर्वे उन्हें गणित पढ़ाने लगे और इस निजी अध्यापन से उन्हें अच्छी खासी आमदनी होने लगी। हफ्ते में तीन दिन पढ़ाने के लिए हर अफसर उन्हें बीस या पच्चीस रुपये देता था।

एलफिंस्टन स्कूल में पढ़ाते हुए एक साल बीत गया तो श्री मोडक ने उन्हें स्थायी रूप से नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा। कर्वे के बारे में अब उनकी राय बदल चुकी थी। लेकिन कर्वे ने धन्यवादपूर्वक उस प्रस्ताव को

अस्वीकार कर दिया। उन्होंने तय कर लिया था कि मैं सरकारी नौकरी स्थायी रूप से नहीं करूंगा। उन्हें लगा कि दो या तीन अच्छी ट्यूशनों से उनका काम चल जाएगा। वह किसी नौकरी के लिए विशेष उत्सुक नहीं थे, क्योंकि वह एम० ए० की तैयारी करना चाहते थे और रसायनशास्त्र लेकर परीक्षा देना चाहते थे। बी०ए० करने के तीन वर्ष बाद सन् 1887 में उन्होंने एम० ए० की परीक्षा दी, लेकिन सफल नहीं हो सके। तब हमेशा के लिए उन्होंने यह ख्याल छोड़ दिया।

उनके पुराने प्रोफ़ेसर ने उनके लिए कुछ और काम जुटा दिए। उन्हें दो स्कूलों में आंशिक रूप से पढ़ाना था—एक कैथेड्रल गर्ल्स हाई स्कूल और दूसरा एलेग्जेंड्रा गर्ल्स हाई स्कूल। दोनों में वह मैट्रिकुलेशन क्लास को गणित और थोड़ा-बहुत विज्ञान पढ़ाते थे। कैथेड्रल गर्ल्स स्कूल में वह प्रतिदिन सवा घंटा और एलेग्जेंड्रा गर्ल्स स्कूल में दो घंटे पढ़ाते थे।

इन दोनों स्कूलों में अधिकतर यूरोपीय या पारसी परिवारों की लड़कियां पढ़ती थीं। कर्वे की पोशाक एक हिंदू की थी—धोती, गले तक बंद बटन वाला कोट, पगड़ी और मोजा जूता। एक दिन एक स्कूल के प्रिंसिपल ने उनसे नम्र संकेत करते हुए कहा कि धोती के बदले पतलून पहनना अधिक अच्छा होगा। बेचारा अध्यापक जिसने जिंदगी में कभी पेंट पहनी ही न थी असमंजस में पड़ गया। उसने तीन चार दिन इस विषय पर घंटों विचार किया और अन्त में एक मित्र से एक पतलून मंगनी मांगने का निश्चय किया। श्री पी० एस० लाड से कर्वे का अच्छा परिचय था। कर्वे ने अपने ममेरे भाई रघुनाथ परांजपे को जो उन दिनों उनके साथ रहता था, लाड साहब के पास भेजा। श्री लाड ने खुशी खुशी अपनी पेंट उन्हें दे दी। तीन, चार दिन मंगनी की पेंट पहनने के बाद उन्हें लगा कि इस पहनावे को मैं जितना असुविधाजनक समझता था, वैसा है नहीं। तब उन्होंने अपने लिये दो एक पेंट नयी सिलवा ली। कई बरसों तक फिर वह इसी तरह की पोशाक पहनते रहे—पेंट, लम्बा कोट और पगड़ी।

राबर्ट मनी स्कूल के उनके एक अध्यापक राजाराम शास्त्री भागवत ने बंबई में एक मराठा हाई स्कूल स्थापित किया था। कर्वे उनके प्रिय शिष्यों

मे थे थे। कर्वे के स्कूल छोड देने के बाद भी वह उनसे स्नेह करते थे। उन्होंने कर्वे से अपने स्कूल मे पढाने को कहा। कर्वे ने उनके स्कूल म आकर बहुत कम वेतन पर पढ़ाना स्वीकार कर लिया। राजाराम शास्त्री उनका सहयोग पाकर बडे प्रसन्न हुए और उस दिन की बाट जोहने लगे जब कर्वे उनकी संस्था के आजीवन सदस्य बन सकेंगे। कुछ साल पहले बाल गंगाधर तिलक, गोपाल गणेश आगरकर प्रभृति कतिपय तरुण एव नि स्वार्थ व्यक्तियो ने पूना म "न्यू इगलिश स्कूल" नामक एक विद्यालय खोला था। कर्वे उनके बारे में थोडा बहुत जानते थे। वह भी भागवत के स्कूल को भी उसी प्रकार का एक प्रयास समझते थे। उनको आशा थी कि जब मैं मुरुद म अपने परिवार की चिंताओ से मुक्त हो जाऊगा, मराठा स्कूल का आजीवन सदस्य बनकर शिक्षा-काय के प्रति निष्ठावान रहूगा। इसलिए वह निस्वार्थ उत्साह से काम करने लगे।

स्कूलो और निजी अध्यापन काय में वह प्रतिदिन कम से कम आठ घंटे व्यस्त रहते थे। इन कई जगहो म आने जाने म भी काफी वक्त लगता था। खच बचाने के लिये वह पैदल चलते थे। यद्यपि काम बडा कठोर और श्रम-साध्य था, पर उसमे उन्हे आनद मिलता था। इससे उनकी अच्छी खासी मासिक आय भी हो जाती थी, मा और दादा की सहायता करने के बाद व थोडी बहुत बचत भी कर लेते थे।

अपना दैनिक काय वह सवेरे छ बजे से मझ गाव के सेंट पीटर्स स्कूल के यूरोपीय और ऐंग्लो-इंडियन लडको के प्राइवेट प्रशिक्षण के साथ आरभ करते थे। जाडो म, शुरू के आधा या पौन घटे तक, कक्षा मे एक लैंप जलाना भी जरूरी होता था। अपने निवास-स्थान गिरगाव स वह सेंट पीटर्स स्कूल तक पैदल जाते थे। इसमे उन्हे लगभग एक घटा लग जाता था। राधा बाई उन्हे साढे चार बजे जगा देती। पाच बजे तक वह दही और भात का कलेवा तैयार कर देती। हर सुबह गिरगाव से मझगाव तक पैदल चलकर काफी ताजा और स्वस्थ अनुभव करते और एक नये उपादेय श्रम पूर्ण दिवस की प्रतीक्षा करते थ। वह तरुण अध्यापक जिसन कोई बडी बडी आकाक्षाए नही सजो रखी थी, सभवत अधिक विनम्र भाव से अनजान ही प्रभात को आरभिक

घडियो मे अधकार से प्रकाश की ओर एक ही क्षेत्र मे लगभग उसी [illegible] चल रहा था, जिसे पूना मे आगरकर और तिलक ने अपने लिए [illegible]। कर्वे जब सेंट पीटर्स और मराठा स्कूल के लडको तथा अन्य दो [illegible] के लडकियो को पढाते थे, उन्हे न केवल इस बात का सतोष [illegible] कि मैं ऐसा काम कर रहा हू जिससे मेरी और मेरे परिवार की [illegible] होती है, बल्कि उन्हे इस बात का भी सतोष था कि मैं [illegible] के बौद्धिक विकास मे योग दे रहा हू। छात्र-छात्राओं के [illegible] मुस्कराते हुए चेहरे उनके शरीर और मन की सारी [illegible]।

कर्वे सवेरे छः बजे से शाम को देर तक काम [illegible] दो तीन बार छुट्टी पाते थे जब वह थोडा वक्त [illegible] झटपट भोजन कर लेते या ईरानी रेस्तरा में एक प्याला [illegible]। इसके बावजूद वह अपनी पत्नी की पढाई लिखाई में [illegible] कर उसकी ओर भी ध्यान देते थे।

नरहर पत जोशी और घोडो केशव कर्वे बी० ए० [illegible] पा जाने के बाद भी साथ-साथ रहते रहे। [illegible] ग्रथा के प्रसिद्ध लेखक मोरेश्वर रामचन्द्र [illegible]। अब उस मिले जुले कुटुम्ब में नरहर पत, [illegible], कर्वे, राधाबाई, उनका बच्चा रघुनाथ [illegible] काले का परिवार था। ये तीनों परिवार [illegible] साथ रहे।

कर्वे अपनी शिक्षा प्रसार की धुन में अपने गाव से चार लड़को को बबई ले आए। उनमे से एक उनके मामा पुरुषोत्तम पत पराजपे का लड़का रघुनाथ था। छुट्टियो म कर्वे जब घर जाते तो कभी भी मुर्डी म अपने मामा के यहा जाना न भूलते, एक बार जब वह अपने मामा के यहां गए हुए थे, उन्होंने रघुनाथ को स्लेट पर कुछ लिखते देखा। उन्होंने पूछा, "रघुनाथ, तुम अंग्रेजी सीखना चाहते हो ?"

लड़के ने आग्रह पूर्वक कहा, "हां अन्ना, चाहता तो हू।"

लड़के की सुकुमार वाणी मे कुछ ऐसी बात थी, जो कर्वे के हृदय को छू गई। उन्हे रघुनाथ के लक्षण एक विद्वान बनने योग्य लगे। सचमुच रघुनाथ की मा ने धोंडू का ही उदाहरण उसके सम्मुख प्रस्तुत किया था। डा० रघुनाथ पराजपे की अपने बचपन की स्मृति में उनकी मा के महत्वपूर्ण शब्द अंकित थे—'धोंडू की तरह विद्वान बनो।' वह अक्सर कहा करती—'धोंडू कितना बड़ा विद्वान है।' रघुनाथ के कानो मे उनकी यह बात गूजती रही। उस समय वह बालक 'अन्ना' की तरह बनने के अवसर की प्रतीक्षा मे था। कर्वे-परिवार के छोटे बच्चे एव घनिष्ठ मित्र उन्हें 'अन्ना' नाम से ही पुकारते और जानते थे।

कर्वे ने उसी क्षण उसकी स्लेट पर अंग्रेजी वर्णमाला के केवल चार प्रारंभिक अक्षर लिख कर रघुनाथ से कहा, 'लो, इन अक्षरो को अच्छी तरह सीखो।' दोपहर की झपकी के बाद उन्होंने स्लेट की जाच की। उन्हें खुशी हुई कि वे अक्षर सफाई से लिखे हुए थे।

कर्वे ने पूछा, "मेरे साथ बबई चलोगे ?"

जवाब मे रघुनाथ ने अपनी कमीज और टोपी पहन ली और कुछ ही क्षणो मे उसका सामान भी तैयार हो गया। कर्वे ने उसे ले जाने की इजाजत मामा से पहले ही ले ली थी। तब रघुनाथ नौ साल का था।

कर्वे ने दापोली के मिशन स्कूल म रघुनाथ के कुछ बरस पढने का इन्तजाम कर दिया। तब नरहर पत के भाई वामन राव उसी स्कूल मे पढाने लगे थे। रघुनाथ उन्ही के साथ रहने लगा। शुरू की तीन जमातें पास कर

लेने पर कर्वे उसे अपने साथ बम्बई ले गए।

अपने आश्रितो के लिए रुपये पैसे की व्यवस्था कर्वे निराले ढग से करते थे। वह अपनी ज्ञान की पिपासा और अपने विद्यार्थी जीवन की कठिनाइयों को कभी भूल न सके। अत योग्य और निधन विद्यार्थियो के लिये उनका सदभाव सर्वोपरि था। वह उन्हे प्रोत्साहन और सहायता देते ही थे, साथ साथ वह यह भी चाहते थे कि उनमे आत्म विश्वास उत्पन्न हो एव वे उस अपमान की लज्जा से बच सकें जिसका अनुभव सहायता को दान के रूप मे पाने से होता है। ऐसे कुछ लडको को, जिनम उनका ममेरा भाई रघुनाथ पराजपे भी था, वे कर्ज के रूप मे उनकी उच्च शिक्षा के लिए सहायता देते थे। वह मूल रकम पर सवा तीन प्रतिशत सूद लेते थे और उसका बाकायदा हिसाब रखते थे, मानो यह डाकखाने मे बचत-खाते का हिसाब हो। उन्होने रघुनाथ पराजपे तथा अन्य लडको के लिए भी एक एक हजार रुपये की बीमा पालिसी ले ली थी। जब पराजपे ने उनका कर्ज अदा कर दिया तो पालिसी उन्हे दे दी गई। कर्ज की अदायगी के बाद उस सरक्षित छात्र ने स्वभावत कृतज्ञता का अनुभव किया और पालिसी को कर्वे की सस्था—अनाथ बालिकाश्रम—के नाम पर दे दिया। यह आश्रम हिंगने मे था। कभी कभी कर्वे दुखी होकर कहा करते कि अगर मैंने गरीबी की जिंदगी न अपनाई होती तो और भी अधिक विद्यार्थियो की पढाई मे सहायता कर सकता।

उनके पुत्र रघुनाथ का उपनयन बबई मे बडे सीधे सादे ढग से हुआ। उनके मित्र श्री अचवल न रघुनाथ के साथ ही, उसी ढग स, अपने पुत्र का भी उपनयन कराया। उन्होने सारा काम कुल पद्रह रुपयो म निबटा लिया। पारपरिक रूप से उपनयन करने मे तीन सौ रुपये खर्च होते। दोनो मित्रों ने यह बची हुई रकम मुरुद फड मे दे दी। यह फड कुछ साल पहले कर्वे और उनके कुछ मित्रो ने शुरू किया था। इसके सूद के रुपये लडकियो की शिक्षा पर या अग्रेजी के प्रचार मे खर्च किए जाते थे।

दादा ने भी अपनी पुत्री मनुताई के विवाह मे धोंडो की सलाह ली और उनका अनुसरण करके बहुत खर्च किया। कर्वे ने वर ढूढने मे अपने भाई की

सहायता की। लड़का गरीब घर का था, लेकिन मेधावी था। कर्वे बाद में उसे अपने साथ बवई ले गए। उनके और सरस्तिता के साथ वह भी उन्ही के यहा रहने लगा। बाद मे जब कर्वे पूना के फर्गुसन कालेज मे पढाने चले गए तो वह भी न्यू इगलिश स्कूल में भर्ती हो गया। वहीं से उसने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की। कर्वे ने उसके लिए भी बीमे की एक पालिसी ले ली थी। दुर्भाग्य से पढाई पूरी करने से पहले ही उसका देहान्त हो गया। उस बीमे की रकम से कर्वे न उसके बूढे पिता का कर्ज चुका दिया और बाकी धन मुन्द फड मे जमा कर दिया।

रघुनाथ परांजपे के अलावा उनके घर मे तीन और लड़के रहते थे। रघुनाथ तो वहा रहकर अध्ययन के सुअवसर का पूरा लाभ उठाता था, लेकिन औरों ने इस दिशा मे ज्यादा प्रगति नही की। सन 1891 में वह मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा म बैठा और प्रथम आया।

कर्वे के साथ रहने वाले दूसरे लड़के मराठा स्कूल मे चले गए। उन दिनो की याद करत हुए डा० आर० पी० परांजपे ने डा० डी० के० कर्वे की आत्मकथा के परिचय मे लिखा है —

"बहुत से महापुरुष दूर से ही महान दीखते हैं। लेकिन उनके निकट सपर्क मे रहने वालो को व वैसे महान नही लगते। अन्ना के बारे मे मैं ऐसा नहीं कह सकता। वह उन विरले लोगों मे है, जिनसे जितनी ज्यादा घनिष्ठता होती है, उनके प्रति सम्मान और प्रीति भी उतनी ही बढती जाती है। अग्रेजी नाटको का प्रसिद्ध अभिनेता गैरिक तथा अ य छात्र डा० जानसन से शिक्षा प्राप्त करते थे। इन तरुण छात्रो ने डा० जानसन की विद्वत्ता तथा अन्य गुणो की अपेक्षा उनके विचित्र व्यवहार और सनको पर अधिक ध्यान दिया। पीठ पीछे वे उनका मजाक भी उडाया करते थे। बवई मे प्रोफेसर कर्वे के साथ रहने वाले हम चार-पाच छात्र भी बहुत-कुछ डा० जानसन के उन छात्रों जैसे थे। अ य अध्यापको मे भी शायद ही कोई ऐसा होगा जिसकी खिल्ली उडाने से हम चूकते रहे हा। बेशक, हम आपस मे अक्सर उन पर हँसा करते थे। लेकिन अन्ना के बारे मे हल्के फुल्के ढग से भी बातें करना

हम एक एक अक्षम्य अपराध मानते थे। उनको जरा सी भी चोट पहुचाने की बात हम सोच तक नही सकते थे, क्योकि अगर वह जरा सी भी त्यौरी चढा लेते या एक भी क्रोध भरा शब्द बोल देते तो वह हम लोगों के लिए कठोरतम दड होता। मेरा ख्याल है कि उनकी अपनी कनिष्ठ पीढी मे अपने प्रति केवल प्रेम और सम्मान जगाने के दुलभतम गुण ने ही उन्हे महान बनाया। उन प्रारम्भिक दिनो मे हम लोगों को ऐसा लगता था कि उनमे महापुरुष के लक्षण हैं। बाद मे, जब उनका सुयश सारे देश मे फैल गया, तो हमारे जसे उनके प्रारम्भकालीन छात्रो का अभिमान हुआ, प्रसन्नता भी हुई, लेकिन आश्चय नही।"

रघुनाथ पराजप तथा दूसरे लडके, राधाबाई की मातृवत देख रेख में बडे खुश थे। वह उन लोगो के खाने पीने और शारीरिक सुविधाओ का ध्यान रखती थी, कर्वे उनकी पढाई लिखाई की प्रगति के बारे में सावधान थे। राधाबाई का काम बहुत मुश्किल था। पति के लिए नाश्ता तैयार करने के लिए वह बहुत तडके उठ जाती थी। कर्वे सूर्योदय के पहले ही घर छोड देते थे। उसके बाद उन्हें लडको के लिए भोजन बनाना पडता था। वह बगैर-शिकायत के अथक परिश्रम करती थी। लडके भी उन्ह सगी मा की तरह मानते थे। जब वे दिन भर कडा काम करके थके मादे घर लौटते, वह मुस्कान और स्नेहमय शब्दो से उनका स्वागत करती। लडके सारी थकान को और अगर उन्ह कोई परेशानी होती, तो उसको भूल जाते। प्राय कर्वे की अन्तरात्मा उन्ह कोसती कि 'अपनी अप्रतिहत कत्तव्यपरायण पत्नी को मैं थोडा भी आराम नही दे पाता।' जिसकी उसे नितान्त आवश्यकता थी। उन्ह डर भी था कि घरेलू काम धो के बोझ से उनका स्वास्थ्य कही जवाब न दे दे। उनका यह डर सच होकर रहा। बेचारी गृहिणी के लिए यह मानवकृत बहुत भारी पडी। उनका स्वास्थ्य नष्ट हो गया। कभी कभी उनके लिए बिस्तर से उठना भी मुश्किल हो जाता। तब लडके खाना पकाते और अन्ना उनके पास बैठकर हिदायतें देते। राधाबाई की बीमारी बहुत बढ गई, कर्वे ने उन्हे मुरुद भेज दिया।

कई हफ्ता तक मुरुद म रहने के बाद राधाबाई की लालसा बबई लौटने

की हुई। लौटने पर उनका स्वास्थ्य फिर बिगड़ गया। वह फिर मुरुद वापस चली गई। इस बार गई तो कभी न लौटीं। कर्वे जानते थे और वह भी जानती थी कि मृत्यु उन पर मंडरा रही है। कर्वे के पत्र सांत्वनादायक होते और उन्हें अवश्यभावी के लिए तैयार करने की कोशिश करते। प्रत्युत्तर में कर्वे को वे प्रेम से सराबोर पत्र लिखतीं। उनके हृदय एक साथ गुथे रहे।

उस दिन नागपंचमी थी—श्रावण महीने की पांचवीं तिथि। बारह साल पहले इसी दिन उनके पिता केशोपंत का देहान्त हुआ था। नागपंचमी को ही उनकी पत्नी के जीवन में सूर्य का अंतिम बार पर्यावसान हुआ।

आसमान मेघाच्छन्न था और बेचारे अध्यापक कर्वे का हृदय तमसाच्छन्न। वह एक स्कूल से दूसरे स्कूल को जाते और अपनी स्वाभाविक शांति से सारे काम करते। सब कुछ यंत्र चालित की तरह।

तीन दिन बाद शाम का वक्त था। यथासमय कर्वे घर लौटे तो एक पत्र रखा हुआ था। उसे लेकर खोला। पत्र में राधाबाई की मृत्यु का संवाद था। उनके हृदय में वेदना का तूफान उठा पर उनकी झलक चेहरे पर नहीं आई। उनका चेहरा शांत बना रहा। रात में उन्हें नींद नहीं आई, लेकिन सवेरे वे अपने वक्त पर जाग गये। अगला दिन भी उसी तरह बीता। हमेशा की तरह सारे काम चलते रहे मानो कोई बात ही न हुई हो।

राधाबाई के पति ने मुरुद फंड को पांच सौ रुपये का दान दिया। और उससे अपनी पत्नी के नाम पर एक छात्रवृत्ति देने की व्यवस्था करके उनकी स्मृति को चिरस्थायी बना दिया।

अध्याय 5

नारी युग

उन्नीसवीं शती को आमतौर पर भारतीय कला तथा साहित्य के पुनरुत्थान और ज्ञानोदय का युग माना जाता है। लेकिन उसे नारी युग कहना अधिक उचित होगा। राजनतिक जागरण के बहुत पहले, अथवा पश्चिमी शिक्षा ने अभी तरुण भारतीयो के मस्तिष्को मे नये विचार जगाने भी शुरू नही किए थे कि उससे पहले ही, देश के लगभग सभी भागो मे यह अनुभूति हो रही कि नारियो का अध पतन होता जा रहा है, अथवा उनको देश मे प्राचीन काल से प्राप्त उनके गौरवपूण स्थान से बलात हटाया जा रहा है। भारतीय नारी की मर्यादा का वह ह्रास और उनकी स्थिति की दयनीयता की पराकाष्ठा उन परिस्थितियो का चिर-सचित परिणाम था, जिन पर भारतीय जनता का कोई नियत्रण नही रह गया था। इन परिस्थितियो का कारण या तो विदेशी आक्रमण थे, जिन्होंने नारियो के सरक्षण और उनकी सुरक्षा की आवश्यकता की प्रतीति कराई, या अधविश्वास और धम सम्बन्धी भ्रात विचार। प्राचीन काल मे तथा मध्यकाल मे भी भारतीय नारियो का बडा सम्मान था। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" (जहा नारियो का सम्मान होता है, वहा देवता आनन्दपूवक निवास करते हैं।) इस उक्ति को केवल विश्वास की बात नही समझा जाता था, बल्कि युगो से तदनुसार आचरण भी किया गया और इस प्रकार समाज मे यह मान्यता दृढ की गई। सन् 1911 म समाज-सुधार आन्दोलन के प्रमुख नेता स्वर्गीय सर चदावरकर ने 'नारी की आत्मा' के विषय में एक भाषण में कहा था

" हिन्दुओ को अपना घर प्रिय है। हमारे शास्त्रो ने घर को

एक ऐसा दिव्य माना है जिसमे नारी अथवा नारी की आत्मा गृह-लक्ष्मी के रूप में स्थापित है। सामान्य बातचीत मे भी हम नारी को पहला स्थान देते हैं। हम माता-पिता कहते हैं, पिता-माता नही, कन्या और पुत्र कहते हैं, पुत्र-कन्या नही। हमारी भाषा मे कुटुम्ब शब्द का अर्थ ही है पत्नी, क्योंकि पत्नी से पति, बच्चे तथा परिवार के अन्य सदस्यो का अर्थ बोध कर लिया जाता है। ऐसा इसलिए है कि हिन्दुओ की मान्यता के अनुसार नारी की आत्मा को ईश्वर ने धृति, सहनशीलता और दया का आश्रय बनाया है"[1]

वेदों, उपनिषदो, महाकाव्यों तथा बाद के इतिहास मे भी विश्ववरा और लोपामुद्रा, मैत्रेयी, गार्गी, सरस्वती, कैकयी और सत्यभामा, सीता, सावित्री और द्रौपदी, जीजाबाई, ताराबाई, अहल्याबाई और लक्ष्मीबाई की उपलब्धियो की ज्वलत गाथाए भरी पड़ी हैं। भारत के असख्य नारी रत्नो म स य कुछ के नाम हैं, जिन्होने "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते" की परम्परा निभाई। कमलादेवी चट्टोपाध्याय के इस जोरदार कथन म अत्युक्ति नही है कि "भारत सभ्यता की जिस ऊचाई पर पहुचा, एव उसने ज्ञान का जो भडार ससार को दिया, वैसा करना किसी भी देश के लिए कदापि सम्भव नहीं हो सकता था यदि उसकी नारिया दबाकर रक्खी गई होती और यदि उन्हें पुरुषो के साथ समान सुविधाए और समान अधिकार न दिए गए होते।"[2]

प्राचीन काल म भारत मे नारियो की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा की चेतना ने सन् 1812 मे राम मोहन राय का हृदय आन्दोलित कर दिया और उन्होने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं सती की बर्बर प्रथा का निमू लन न कर लूगा, चन से न बैठूगा। यह सयोग मात्र नही था और न यह पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव का परिणाम था, क्योंकि तब तक पश्चिमी समाज की परिस्थितियो से वह परि-

1 दि स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स आव सर नारायण चदावरकर, पृष्ठ-421
2 वीमेन इन माडर्न इडिया म 'दि स्टटस आव वीमेन इन इडिया", एवलीन सी गेज ऐंड मियान चोक्सी द्वारा सम्पादित

चित नहीं हो पाए थे। घटना उनके बड़े भाई जगमोहन के दाह सस्कार के समय की थी, जब जगमोहन की विधवा ने सती होने का अपना इरादा जाहिर किया। राम मोहन ने उन्हें इस भयकर निणय से डिगाने की बहुत कोशिश की, लेकिन उनके समझाने-बुझाने का कोई असर न हुआ। बाद मे जब वह अपने पति की चिता पर चढी और लपटें उनके कोमल शरीर को घेरने लगी तो उन्होंने उठकर भागने की कोशिश की तब उनके सम्बन्धियो और पुरोहितो ने बास के डडो से ठेल कर उन्हें वही जल मरने को मजबूर कर दिया। साथ-साथ उनकी चीख-पुकार को दबाए रखने के लिए नगाड़े और पीतल के बाजे बजाते रहे। भाभी की सहायता करने मे असमय उनके देवर राम मोहन आखो मे आसू और हृदय मे क्रोध भरे, इस दृश्य को ताकते खड़े रहे। तभी उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी।

"ए सेंचुरी आफ सोशल रिफाम इन इडिया" (भारत मे सामाजिक सुधार की एक शती) (पृष्ठ 23) मे श्री एस० नटराजन ने लिखा है—

"सामान्य धारणा है कि अग्रेजो ने सती प्रथा के उन्मूलन का आरम्भ किया। पर सच्ची बात ठीक इसके विपरीत है। बल्कि वे तो भारत के सम कालीन शासको मे सबसे अन्तिम शासक थे जिन्होने इस प्रथा को रोकने को कदम उठाए थे।"

अकबर ने इस प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया थ यद्यपि उसे सफलता न मिली। किन्तु औरगजेब ने, इस दिशा मे स्पष्ट आदेश दिए। आगरा मे पति की चिता से एक विधवा का उद्धार करने के विरोध मे कुछ ब्राह्मणो ने उसके पास अर्जी भेजी। अर्जी खारिज करते हुए औरगजेब ने हुक्म दिया 'मुगलों के शासन के अतगत कही भी किसी जीवित औरत को जलाने न दिया जाए।" सर जान माल्कम के अनुसार मराठो मे सती प्रथा का प्रचलन बहुत कम था। उसके प्रति उनका बुद्धिमत्तापूण उपेक्षा का भाव था, जो इस प्रथा को न तो समथन द्वारा प्रोत्साहित करता था और न निषेध द्वारा उसे भड़काता था। दूसरी ओर, जब शाहाबाद के कलक्टर एम० एच० ब्रुक्स ने 1789 मे एक औरत का जलना जबदस्ती रोक दिया था तो उन्हे सरकार

(ईस्ट इंडिया कम्पनी) की झाड़ पड़ी। कहा गया कि ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम न लेकर उन्हें व्यक्तिगत प्रभाव का प्रयोग करना चाहिए था। 5 दिसम्बर, 1812 को सरकार ने निर्णय किया कि जहां धर्म इसकी छूट दे, वहां इसकी इजाज़त दे देनी चाहिए और जहां निषेध हो, वहां रोक देना चाहिए। सोलह साल से कम उम्र की लड़कियों, गर्भवती और दवाओं अथवा मादक द्रव्यों से प्रभावित स्त्रियों को सती नहीं होने देना चाहिए। अन्य मामलों में भी सती की चिता के पास एक पुलिस अधिकारी को यह देखने के लिए मौजूद रहना चाहिए कि सभी आदेशों का ठीक से पालन हो रहा है।

राम मोहन राय बड़ी लगन से सती प्रथा को बंद कराने के लिए जूझ पड़े। उन्होंने इसके विरोध में पुस्तिकाएं लिखीं, सरकार के पास याचिकाएं भेजीं और कुछ ऐसे संगठन तैयार किए जो दाह संस्कार के समय ज़ोर-ज़बर करने वालों को रोकें। वे कलकत्ता के श्मशानघाटों पर भी जाते ताकि जो औरतें लाचार हों और सती न होना चाहें, उनके घरवालों को कह-सुनकर मना सकें। इस कार्य के लिए उनकी अपनी अन्तरात्मा ही प्रेरित करती थी जिसने संस्कारों का आधान देश और हिन्दू समाज की सर्वोत्तम सहनशील परम्पराओं से हुआ था। उनका स्त्रियों के लिए भाव सहज सम्मानपूर्ण था। इसका अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि एक बार जब उनके एक स्काटलैण्ड के निवासी मित्र ने उनसे पूछा, "अगर आप दो व्यक्तियों को डूबता देखें, जिनमें से एक आपका देशवासी हो और आप केवल एक ही व्यक्ति को बचा सकते हों तो क्या आप अपने देशवासी को ही नहीं बचाएंगे?" राम मोहन राय ने छूटते ही कहा, "हां लेकिन अगर उनमें से दूसरी औरत होगी तो मैं उसे ही बचाऊंगा।"

प्रारम्भ में राम मोहन राय का विचार था कि सती प्रथा के उन्मूलन के लिए गैर सरकारी लोगों का स्वेच्छा से किया गया व्यक्तिगत प्रयास ही काफी होगा लेकिन बाद में उन्होंने लार्ड विलियम बेंटिंक को कानूनन इस प्रथा पर रोक लगा देने में सक्रिय और हार्दिक सहयोग दिया। बहरहाल सन् 1829 में इस कानून के अमल में आने से नारियों को न्याय और समान पद देने के आंदोलन का केवल सूत्रपात हुआ। यद्यपि इस देश की प्राचीन परम्परा

नारी का सम्मान करने की थी, पर बाद मे जब तत्कालीन परिस्थितियो मे जाति, परम्परा और पुरोहितों से ग्रस्त समाज की रूढ़िया स्थायी बन गई, तो उन्होंने उसे अनेक बुराइयो, अन्यायो और कठिनाइयो का शिकार बना दिया था। नारी की यातना के कई रूप थे—वधू की पोशाक पहने हुए एक नन्ही बच्ची, वह बालिका जिसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हो रहा हो जो उसके दादा से शायद कुछ ही साल छोटा हो, सती बनने को उद्यत वह विधवा युवती जो रूढियो के कारण या अपने सगे सबधियो की दुष्ट इच्छाओ के अथवा अपने ही हृदय मे भरी, निरर्थक परम्पराओ के वशीभूत होकर अपने पति की चिता पर चढने को मजबूर हो, धनी परिवार की स्वामिनी जिसे परदा प्रथा के कारण अपनी प्रतिभा को नष्ट करने और अपने सौन्दर्य को छिपाने पर मजबूर होना पड़े, वह प्रतिभाशाली लडकी जिसे शिक्षा द्वारा ज्ञान और विद्वत्ता अर्जित करने के लाभ से वचित कर दिया जाता था—इन सब रूपो मे नारी ही सामाजिक कुचक्र का शिकार बनाई गई।

उत्पीडित नारियो की अनेक कोटियो मे विधवा का स्थान सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण और करुण था। कई बार तो ऐसा भी होता था कि विवाह-सस्कार के फेरे पूर्ण होते होते वैधव्य ही पति पत्नी के आपसी सम्बन्ध का एकमात्र चिह्न रह जाता। बगाल मे कुलीन लोग चाहे जितने विवाह कर लेते थे। ज्यादातर उनकी पत्निया छोटी बच्चिया होती थी और उनमे से बहुत कम को, अपने पति के सहवास का यथार्थ अवसर मिल पाता था। अगर कोई बदकिस्मत लडकी या औरत मर न जाती या अपने पति के साथ मरने से इन्कार कर देती तो उसे बडा कठोर और मानसिक यातनामय जीवन बिताना पडता जो सम्भवत मौत से भी बदतर होता था। ब्रह्म समाज के नेता बाबू प्रताप चन्द्र मजूमदार ने अपनी विधवा माता की यत्रणाओ का वर्णन करते हुए, हिन्दू विधवाओं की दुर्दशा का बडा सजीव और करुण चित्रण किया है। उन्होने लिखा है—

"यदि लोग विधवाओं के प्रति अधिक सहानुभूति वाले होते और समाज उनकी सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति के हक को मान लेता तो शायद वे

अपने प्रति कुछ कम कठोर होती और वन्द से पुत्र उस हृदय विदारक पीड़ा से बच जाते, जिसका मर्मान्तक अनुभव मुझे अपनी प्यारी माँ को दुनिया की उपेक्षा और उदासीनता के बोझ के नीचे घुटते हुए देखकर हुआ।"[1]

अब हिन्दू विधवा को केवल उसके पति की चिता की लपटों से ही बचाना आवश्यक नहीं था। यह काम तो 1829 के अधिनियम द्वारा पूरा हो गया था। यह हिन्दू स्त्रियों का सौभाग्य था कि बंगाल के कई उच्च विचार के लोगों ने राम मोहन राय के उदाहरण को स्वीकार किया और उनके सुधार के तरीकों का अनुकरण किया। उनमें से अधिकांश ब्रह्म-समाज के अनुयायी थे। राम मोहन राय ने आध्यात्मिक भ्रातृत्व और एक ईश्वर के विश्वास पर इस समाज की स्थापना की थी। उनके बाद देवेन्द्र नाथ ठाकुर आए। उन्हें सब लोग महर्षि कहते और वैसा ही उन्हें सम्मान भी देते थे। उन्होंने ब्रह्म-समाज का काम बड़े जोर-शोर और श्रद्धा के साथ चलाया। उनकी और खासकर केशवचन्द्र सेन की (जो ब्रह्मसमाज के तीसरे बड़े नेता थे) देख-रेख में ब्रह्म-समाज ने समाज-सुधार के एक शक्तिशाली अखिल भारतीय आन्दोलन का रूप ले लिया। महर्षि और ब्रह्मानंद (केशवचन्द्र सेन को उनके मित्र और शिष्य इसी नाम से पुकारते थे) के व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर बहुत से लोग इस धर्म में दीक्षित हुए और अपनी बौद्धिक प्रतिभा और सुधार कार्य में निःस्वार्थ लगन के लिए प्रसिद्ध हुए। वे नारीमुक्ति के अग्रगामी कार्यकर्ता थे। उनमें एक थे संस्कृत कालेज के प्रधानाचार्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। यद्यपि बाद में वह ब्रह्म-समाज से अलग हट गए, लेकिन देवेन्द्रनाथ तथा ब्रह्म-समाज के अन्य बड़े नेताओं की शिक्षा का प्रभाव उनके जीवन और चरित्र पर कम नहीं हुआ। राम मोहन राय और विलियम बैंटिक ने सुधार की जिस राह को प्रशस्त किया, ईश्वरचन्द्र ने उस पर दूसरा महत्वपूर्ण कदम रक्खा। अक्तूबर, 1855 में ईश्वरचन्द्र ने सरकार के पास एक अर्जी भेजी थी उसमें मांग की गई थी कि जो हिन्दू विधवाएं पुनर्विवाह करना चाहें, उनके मार्ग की सब प्रकार की रुकावटें दूर करने के लिए कानून बनाया जाए। एक महीने के

1 ए सेंचुरी आफ सोशल रिफार्म इन इंडिया, एस०नटराजन, पृष्ठ 43

कराते रहे। सीतानाथ तत्वभूषण के शब्दो में—"बहुत सी विधवाओं को वास्तव मे उनके मा बाप के यहा से चुरा कर लाना पडता था। इतिहास म उनके उद्धार का वृत्तात ब्रह्म-समाज के आद्य सदस्यो के नैतिक उत्साह का और मानवीय व्यथा को दूर करने के लिए उनकी समर्पित भावना का महान चिर-स्थायी स्मारक है।"

शशिपद बनर्जी भी इसी श्रेणी के ब्रह्म समाज के एक बडे निष्ठावान सदस्य थे जिन्होने इस दिशा मे खूब काम किया। उन्होने पहले सन 1868 मे अपनी विधवा भतीजी का पुनर्विवाह कराया। उसके बाद उनका घर विधवाओं का आश्रय ही बन गया। उसमे लगभग चालीस विधवा-विवाह हुए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विधवा युवतिया को छुडाकर लाने और उनको बचाकर रखने मे बडी सावधानी बरती जाती थी। जो व्यक्ति किसी विधवा को बचाता था, उससे ही उसके विवाह की अनुमति कभी नही दी जाती थी।

विधवाओ की स्थिति मे सुधार के लिए आन्दोलन के साथ विवाह की उम्र बढाने और स्त्री शिक्षा के लिए दो आन्दोलन और भी जुड गए थे। पतियो की चिता मे जबदस्ती जल मरने से बचाई गई कई कच्ची उम्र की बाल विधवाए थी और उनमे बहुत थोडी ऐसी थीं, जो दूसरे विवाह के लिए आगे आई अथवा जिन्ह इसके लिए राजी किया जा सका। जरूरी था कि उनके लिए कुछ ऐसा इन्तजाम किया जाए कि वे आत्मनिर्भर बन सकें। केवल शिक्षा ही एसा साधन था जिसस उन्हें समाज मे आर्थिक स्वतन्त्रता और सम्मानित स्थिति मिल सकती थी। स्वाभाविक था कि समाज सुधार के नता स्त्री शिक्षा का काय अपने हाथ मे लेते।

इस दिशा मे ईसाई धमप्रचारको ने नेतृत्व किया। बम्बई म हिन्दू लडकियो के लिए सबसे पहला स्कूल अमेरिकन मिशनरी सोसाइटी न सन 1824 मे खोला। सोसाइटी ने इस दिशा मे बडी तजी से प्रगति की। सन् 1829 में बम्बई मे इसके नौ स्कूल थे, जिनम 400 लडकिया पढती थी। सन 1837 मे उसी सोसाइटी ने अहमदनगर मे दो स्कूल खोले और उसके तुरन्त बाद एक एसा स्कूल खोला जिसम लडकियो के रहन का भी इन्तजाम

था। चच मिशनरी सोसाइटी और स्कॉटिश मिशनरी सोसाइटी ने भी कन्या-विद्यालय खोले। मिशनरियों के इस कार्यकलाप और स्कॉटिश मिशनरी सोसाइटी के कार्यों के साथ डा० विल्सन और उनकी पत्नी मिसेज मार्गरेट विल्सन का भी सम्बंध था। उन्होंने 1829-30 में कन्या विद्यालय खोले। सौभाग्य से डा० विल्सन को बम्बई के कुछ प्रतिष्ठित और प्रभावशाली व्यक्तियों की सहानुभूति और सक्रिय समर्थन मिल गया। उनमें एक जगन्नाथ शंकर सेठ थे, जिन्होंने ठाकुर द्वारा मुहल्ले में लड़कियों का एक स्कूल खोलने में डा० विल्सन की सहायता की। उस मुहल्ले में उच्च मध्यम वर्ग के लोग रहते थे।

कन्याओं की शिक्षा को आगे बढ़ाने के लिए स्वेच्छा से अन्य व्यक्तिगत प्रयास भी होने लगे। 1847 में दादाभाई नौरोजी ने एलफिंस्टन इन्स्टीट्यूशन के प्रोफेसर पैटन और भाऊ दाजी, वी० एन० मांडलीक तथा अन्य लोगों की सहायता से "स्टूडेंटस लिटरेरी एँड साइंटिफिक सोसाइटी" की स्थापना की। दो साल बाद इस सोसाइटी ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले। सोसाइटी के सदस्य, बिना कोई मेहनताना लिए इन स्कूलों में प्रतिदिन दो घंटा पढ़ाया करते थे। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक सोसाइटी को जन सहयोग से पर्याप्त धन नहीं मिल गया ताकि वह पूरे वक्त के अध्यापकों को वेतन दे सके। कुछ ही वर्षों में सोसाइटी इतनी सम्पन्न हो गई कि उसने लड़कियों के लिए कई मराठी और गुजराती स्कूल खोले और उनको ठीक तरह चलाने लगी। पूना में पहला कन्या विद्यालय एक व्यक्ति ने खोला जो स्वयं ऐसी जाति में जन्मा था जिसे तत्कालीन समाज पिछड़ा समझ कर उसकी अवहेलना करता था। उसने मुख्यतः अपनी अन्तरात्मा से ही प्रेरणा पाई और अपनी कल्पना को साकार करने के लिए पिछड़ी जातियों तथा स्त्रियों की मुक्ति का कार्य हाथ में लिया और उसे योग्यतापूर्वक आगे बढ़ाया। उसका नाम था जोतिबा फुले। महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में जोतिबा फुले को आदर-पूर्वक महात्मा फुले के नाम से याद किया जाता है। 3 जुलाई, 1851 को उन्होंने आठ लड़कियों के साथ पहली कन्या-पाठशाला खोली। जल्दी ही छात्राओं की तादाद अड़तालीस हो गई। फिर अध्यापक नियुक्त हुए। स्कूल

के सचालक उन्हें बहुत थोडा वेतन दे पाते थे । इसलिए अध्यापकों मे अक्सर फेर बदल होता रहता । जोतिवा की पत्नी सावित्री बाई स्कूल की प्रधाना-अध्यापिका बनाई गई । थोडे ही दिनो मे नारी शिक्षा समिति की स्थापना हुई । कुछ ही समय बाद लडकियो के दो और स्कूल खुले । 17 फरवरी 1852 को पहले स्कूल की सार्वजनिक जाच हुई ।

"इस समारोह को देखने के लिए नागरिको की एक बडी भीड एकत्रित हो गई थी । जाच खत्म हो जाने पर भाऊ साहब माडे ने अपने भाषण मे कहा कि मुझे खेद है कि यहा एकत्रित सुयोग्य नागरिकों ने अभी तक स्त्री-शिक्षा का महत्व नही समझा है । महान अग्रेज कवि मिल्टन की कविता को उद्धृत करते हुए "बाबाघोश श्री बाउन ने कहा कि अगर स्त्रिया शिक्षित होंगी तो हमारे घर उपयोगी और आनन्दपूर्ण हो जाएग ।"[1]

पहले तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने स्त्री शिक्षा का समर्थन नही किया, क्योकि उस समय अधिकारी-वर्ग म यह आम धारणा थी कि "जनता को स्त्री शिक्षा की योजना निस्सदेह अप्रिय लगती है । हिन्दू और मुसलमान दोनो ही इसे भय और आतक की दृष्टि से देखते हैं । इस देश के वे निवासी जो दयालु और इसका विरोध करने वाले हैं, ऐसा भी मान सकते हैं कि इससे कुछ हद तक जनता का धर्म परिवर्तन करने म सहायता मिलेगी ।"[2]

पहले-पहल गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी (1848 56) ने कौंसिल आफ एजुकेशन को आदेश दिया कि वह अपने कार्मो मे लडकियो के शिक्षण को भी सम्मिलित करे । उसने यह भी कहा कि सरकार को इस काम मे खुले तौर पर स्पष्ट और सौहार्दपूर्ण सहायता देनी चाहिए । डलहौजी के आदेशो का सन् 1854 के प्रसिद्ध वुड के खरीत मे समर्थन हुआ । उसके बाद स सरकार स्त्री शिक्षा के काम को अधिकाधिक बढावा देने लगी । लेकिन इस क्षेत्र मे भी मार्गदर्शक तो दादाभाई नौरोजी और जोतिबा फुले ही थे । लोगो

1 महात्मा जोतिराव फुले धनजय कीर, पृष्ठ 32 33

2 ए रिव्यू ऑफ एजुकेशन इन बाब स्टेट (सेंचुरी वॉल्यूम ऑफ दि डिपार्टमेंट आफ एजुकेशन, बाबे स्टेट) पृष्ठ 388

ने उनके नेतृत्व में स्वेच्छा से प्रयास करके स्त्री शिक्षा की प्रारम्भिक नींव डाली और चालीस साल बाद उसी नींव के ऊपर धोंडो केशव कर्वे ने, हिंगने म अपनी महान संस्था-महिला विद्यालय का निर्माण किया।

महाराष्ट्र मे विधवा विवाह आन्दोलन को पिछली शती की छठी दशाब्दी के प्रारम्भिक काल मे विष्णु शास्त्री पंडित ने प्रारम्भ किया। वह महाराष्ट्र के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कहे जाते हैं। विधवा विवाह के लिए जनमत तैयार करने का जैसा काम पंडित विद्यासागर ने बगाल में आरम्भ किया था, महाराष्ट्र मे भी कार्यकर्ताओं के एक दल ने उसे बड़े उत्साहपूर्वक अपना लिया। विष्णु शास्त्री पंडित उनके प्रमुख थे। विधवाओं के पुनर्विवाह का कानून 25 जुलाई 1856 को पास हुआ था। आशा थी कि इससे उन विधवाओं को प्रोत्साहन मिलेगा जो पुनर्विवाह करके फिर से नया जवीन आरम्भ करना चाहती हैं। यद्यपि कानून विधवा विवाह का समर्थन करता था, फिर भी देश के अन्य भागो की तरह महाराष्ट्र में भी समाज का मत इस सुधार के विरोध में था। लेकिन विष्णु शास्त्री जैसे लोगो का विश्वास था कि व्यक्तियो और समाजो का सच्चा सुधार होता है "केन्द्र से परिधि की ओर" जैसा कि डाक्टर जेम्स मार्टिन्यू न कहा है यह प्रगति प्रारम्भ में दीखती नही है क्योंकि इसका एकमात्र बिन्दु सतह के नीचे गहराई मे दबा होता है, पर वह अपनी परिधि का विस्तार करता ही रहता है, पहले अपने आसपास के क्षेत्र मे और फिर सारी सतह पर वह फैल जाती है, देश का कोई व्यक्ति इस सजीव शक्ति से अनुप्राणित होकर पहले अपनी चेतना का उदबोध करता है और उसके बाद अपनी अबाध तीव्र गति से वह अन्य लोगों की चेतना को विशालतर दायरे मे प्रभावित करता है, इस प्रकार दीपक से दीपक के जलने की तरह आत्मा से आत्मा, प्राण से प्राण और विचारो से विचार उदबुद्ध होते हैं।

महाराष्ट्र मे पहले-पहल जिस व्यक्ति के मस्तिष्क ने स्वय अपने को आलोकित किया और फिर दूसरो को किया वह था सुधार के लिए तीखी लगन वाला एक आदमी। उसका नाम था गोपाल हरि देशमुख, जो 'लोक-हितवादी' के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। लोकहितवादी 1862 मे बम्बई

आए । आने के कुछ ही समय बाद उन्होंने अंग्रेजी मराठी का एक पत्र 'इंदु प्रकाश' निकाला । विष्णु शास्त्री पंडित उसमें मराठी में लिखते थे और महादेव गोविंद रानडे अपने लेख अंग्रेजी में लिखते थे । रानडे सामाजिक सुधारों के उत्साही समर्थक थे । वे दोनों विधवा विवाह से बढ़कर अधिक प्रभावशाली वकालत और किसी विषय की नहीं करते थे । हर रोज विष्णु शास्त्री जैसे अपने खून से लिखते रहे थे । उन्होंने एक लेख में नारी को वैधव्य के लिए बाध्य किए जाने का बुरा परिणाम इन शब्दों में अभिव्यक्त किया था—

"वैधव्य के लिए बाध्य किए जाने पर बालाओं की घोर व्यथा का समुचित ज्ञान केवल उनके पिता, श्वसुर और भाई आदि सम्बन्धियों को ही हो सकता है । प्रत्येक बाल विधवा के लिए प्रलोभनों से बच सकना आसान नहीं है । ऐसी अनेक असहाय विधवाएं कुत्सित पुरुषों का शिकार बनने के बाद शिशु हत्या जैसे जघन्य कृत्य करने को मजबूर होती हैं । वे परिवार की प्रतिष्ठा में कलंक लगाने वाली मानी जाती हैं । अतः उनके लिए जीवित रहना असम्भव हो जाता है । इसके विपरीत जो पुनर्विवाह करना चाहती हैं, अगर समाज उनको प्रोत्साहन दे तो इससे अनैतिक कार्यों और अपराधों की रोकथाम हो जाएगी ।"

जिस वर्ष 'इंदुप्रकाश' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, उसी साल बम्बई में पहला विधवा विवाह भी हुआ । इस विवाह की जानकारी बहुत कम लोगों को थी, क्योंकि यह बात बहुत छिपाकर रखी गई थी । सात बरसों तक विष्णुशास्त्री बहुत बहादुरी से, लगातार जूझते रहे । सन् 1855 में सौभाग्य से उन्होंने राजा जामखिंडी के सभापतित्व में 'विधवा विवाहोत्तेजक मंडल' स्थापित किया । उपाध्यक्ष एक अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति थे जिनका नाम सरदार माधवराव विनचूरकर था । पर वास्तव में मंडल को प्रेरणा देने वाले और उसके सचालक स्वयं विष्णु शास्त्री थे । महादेव गोविन्द रानडे भी इसके सक्रिय कार्यकर्ता बन गए । रूढ़िवादी शास्त्रियों और पंडितों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और इसके मुकाबले में हिन्दू धर्म व्यवस्थापक सभा नाम से एक दूसरी संस्था कायम की । इस सभा को हिन्दू समाज के अधिकांश भाग का समर्थन प्राप्त करने में कोई असुविधा नहीं हुई । विष्णु शास्त्री के पक्ष में

लोगो की सख्या कम थी, लेकिन वे अपने कर्तव्य को उत्साह से करने वाले थे। उन्होंने हिंदू धर्म व्यवस्थापक सभा के प्रहारो का डटकर मुकाबला किया और निर्भीक होकर काम करते रहे। उनके प्रयत्नो का पहला प्रत्यक्ष परिणाम तब दीखा जब 'इंदुप्रकाश' में एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसमे एक विधवा ने पुनर्विवाह की अपनी इच्छा प्रकट की थी। जनता मे इस विज्ञप्ति की प्रतिक्रिया तत्काल और अनुकूल हुई। सभा के समर्थको की बौखलाहट और क्रोध की भावना उनके सहन की सीमा को पार कर गई। वे रक्षा और सहायता की याचना करने के लिए शकराचार्य की शरण मे दौड गए। साथ ही उन्होंने एक जोरदार आन्दोलन भी चलाया जिसकी परिणति एक शास्त्रार्थ के रूप मे हुई। उसमें यह निर्णय होना था कि प्राचीन शास्त्रो में विधवा विवाह की स्वीकृति है या नही। शास्त्रार्थ के निमित्त आयोजित सभा में हगामा हुआ और सभा का अन्त अव्यवस्था मे हुआ। पर इस झगडे का अन्त अभी नही हुआ। सुधार के समर्थको को लगातार ऐसी धमकिया मिली कि इंदुप्रकाश प्रेस मे आग लगा दी जाएगी और जिस मडप मे विधवा का विवाह करने की तैयारी होगी उसे तहस-नहस कर दिया जाएगा। नेताओ को भी उनकी हत्या की धमकिया मिली। विष्णु शास्त्री और उनके मित्रो के सौभाग्य से एक अखाडे के मालिक ने, जो खुद अच्छे पहलवान थे, जवाबी धमकिया देकर धमकिया देने वालो का मुह बद कर दिया। सचालकगण तैयारिया करते रहे और 15 जून 1869 को बडी धूमधाम के साथ बम्बई मे वह विवाह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर मोरोबा का होबा के मकान का विशाल कक्ष बडी सुन्दरता से सजाया गया था। सभी सम्प्रदायो के सैकडो अतिथि उपस्थित थे। वर वधू को अनेक मित्रो और शुभ चिंतको की शुभकामनाए तो मिली ही, साथ ही कई लोगो ने उन्हे कीमती उपहार दिए। सात बरस पहले जो सबसे पहला विधवा विवाह हुआ था, उसका प्रचार नही किया गया था। इसलिए महाराष्ट्र मे यह पहला प्रख्यात विधवा विवाह था।

'इंदुप्रकाश' ने इस भव्य घटना का सुविस्तृत वर्णन छापकर उसे महाराष्ट्र के दूर दराज के नगरो और गावो तक पहुचाया। कोकण के एक गाव मे,

ग्यारह साल के एक लड़के ने बड़े चाव से इसे पढ़ा। इस विषय में समय समय पर होने वाले सजीव वाद विवादों को वह सुना करता था और कभी-कभी उनमें भाग भी लिया था। मुरुद के लोगों ने इस घटना में विशेष रुचि ली, क्योंकि वधू वेणुबाई मूलत मुरुद की ही रहने वाली थी। वहां विधवाओं के विवाह के बारे में अक्सर सामान्य वाद विवाद भी होने लगे। धोंडू उन्हें तल्लीन होकर सुना करता।

उसके मन पर विधवा विवाह के बारे में उसने जो कुछ सुना और पढ़ा उसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। अपनी किशोरावस्था में ही वह इसे एक अच्छा और न्यायोचित काम समझने लगा। उसके अध्यापक श्री सोमण एक उदार व्यक्ति थे। वे अपने मित्र श्री बाल के साथ 'इन्दुप्रकाश' पढ़ा करते और उसमें प्रकाशित लेखों के विषय में विशेषत विष्णु शास्त्री के विचारों को लेकर, जिनसे वे अपने को भी सहमत पाते थे, आपस में वाद विवाद करते। उन बातों को सुनकर धोंडू को भी सुधार आन्दोलन के बारे में बहुत सी जानकारी मिली। वह जो कुछ सुनता, उस पर विचार करता। इस मनन से बहुत हद तक उसे अपने विचारों को स्पष्ट बनाने में मदद मिली। जैसे जैसे वह सोचता गया, उसे विधवा विवाह सर्वाधिक महत्व का प्रश्न लगने लगा। उसे ऐसा प्रतीत होता था कि यदि मनुष्य कोई महान उदात्त काम कर सकता है, तो वह यही है कि वह विधवा विवाह के कार्य में योग दे।

सन 1883 में (12 जून) मराठी के पाक्षिक पत्र 'केसरी' में एक कविता प्रकाशित हुई। उसमें कवि ने समाज से बड़ा मार्मिक अनुरोध किया था कि उन लड़कियों को दया और न्याय प्रदान करें जिनका विवाह ■ या सात वर्ष की नाजुक उम्र में पचास या साठ साल के बूढ़ों से कर दिया जाता है, उन कमसिन बेवाओं को जिन्हें जिन्दगी भर दुःख झेलना पड़ता है और गुलामी करनी पड़ती है, उन औरतों को जो उनकी माताएं हैं, बहनें हैं और बेटियां हैं, लेकिन सामाजिक प्रथाओं ने उन्हें मूक पशु समझ लिया है और उन्हें चूल्हे चौके और पालने तक ही कैद कर रखा है। कविता का अन्त इन भावनाओं के साथ हुआ था

"यह उत्पीडन है इस अत्याचार को बद करो। अपनी इन असहाय बहनों के प्रति सहृदय और दयावान बनो। भाइयो, अपने हृदयो की निष्ठुरता को झाड पोछकर बाहर फेंको। उनका पुनर्विवाह करवाकर सच्चे भाई की तरह अपनी बहनो को नई तरह से जीने दो।"

कर्वे उस समय बम्बई मे कालेज के छात्र थे। वे उस कविता को बार-बार पढकर गुनगुनाते रहे फिर उसे जोर जोर से गाने लगे। नरहर पत ने भी उन्हें गाते हुए सुना और तल्लीन हो गया। जब कभी मित्र मिलने आते वे उसी कविता को सुनने की अनुनय करते और भी जिन लोगो ने सुना, उन पर उस कविता के शब्दो और मार्मिक निवेदन का गहरा असर पडा। गाते समय उसके छदो की लय मे कर्वे अपनी और पास पडोस की सुध-बुध खो देते। कवि ने अपनी कविता म जो प्रभाव घोला था कर्वे की गहरी सवेदना उसको और भी मार्मिक बना देती थी।

उनके बचपन के साथी रामभाऊ जोशी ने असाधारण साहस दिखलाया। वह अपने पिता माता की इच्छा के विरुद्ध, अपनी विधवा बहन का किसी योग्य युवक से विवाह करने के लिए उसे जबलपुर ले गए। अपने मित्र का यह जगमगाता उदाहरण कर्वे की आखो से कभी ओझल नही हुआ और सदा उसमे असीम उत्साह भरता रहा। इससे उन्हे भविष्य मे वर्षों तक उचित काम करने का बल और दृढ निश्चय मिलता रहा। राधाबाई की अकाल मृत्यु हृदय विदारक थी, पर उसके बाद उन्हे दीर्घकाल तक उन बातो पर गहरा विचार करने का समय और प्रेरणा मिली जो उन्होने मुरुद म अपनी किशोरावस्था म 'इन्दुप्रकाश' मे पढे थे।

नरहर पत की तीनो बहनो का विवाह छोटी उम्र मे हुआ और वे सभी युवावस्था के पहले ही विधवा हो गई। उनमे सबसे बडी अक्का (विवाह के बाद उसका नाम अबिकाबाई भावे हो गया था) तो उस समय पूर्ण युवती भी नही हो पाई थी कि उसे वैधव्य की यातनाओ का शिकार होना पडा और उनके प्रभाव से वह कभी छुटकारा न पा सकी। अपने सौभाग्य चिन्ह मिटवाने को वह जब तैयार हुई तो नरहर पत और उनके छोटे भाई ने उसे

कुरूप बनने की दुःखद परिस्थिति से बचाने की भरपूर कोशिश की। सम्भवतः वह अपनी मर्जी से अपना सिर मुड़ाने और हमेशा के लिए लाल वस्त्र पहनने को उद्यत न होती क्योंकि उसके भाई उसे रोक सकते थे, लेकिन घर में एक बूढ़ी चाची थी, जो खुद भी विधवा थी। उन्होंने न सिर्फ उसे चेतावनी और भिड़कियां दीं, बल्कि उसके सामने अपना निजी का उदाहरण भी पेश किया। विधिवत सब शरीर के मंगल चिह्न मिट जाने पर अक्का एक बिलकुल ही भिन्न प्राणी बन गई। जिन्दगी में जो कुछ थोड़े-से भी बचे-खुचे प्रीतिकर रमणीय पदार्थ थे, सबका उसने त्याग कर दिया। वह शायद ही कभी अपनी उस छोटी सी कोठरी से बाहर निकलती थी जहां सूर्य की किरणें भी न पहुंच पाती थीं।

नरहर पंत और कर्वे भाइयों की तरह रहते थे अतः कर्वे का पन्त-परिवार से भी बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। अक्का को वे सभी बड़ी अपनी बहन मानते थे। इसकी दुर्दशा देखकर उनके अन्दर बड़ी जबरदस्त छटपटाहट होती थी। कर्वे चाहते थे कि वह अपने जीवन और अपने आस-पास के वातावरण के प्रति अपना रुख बदलने के लिए राजी हो जाए। इसके लिए उन्होंने कोशिश भी की, पर वह सफल न हो सके। सिर्फ एक काम ऐसा था जिसे करके शायद वह उसके दुःखी हृदय की एक मात्र बची हुई लालसा को पूर्ण कर सकते थे। मगर वह उसे कर दें तो वह शान्ति से मर सकेगी। यह स्पष्ट पता चला था कि अब उसका अन्त सन्निकट है। केवल एक ही बात उसकी पीड़ित आत्मा और उसकी मुक्ति के बीच आड़े आ रही थी। उसे अपनी इकलौती बेटी वाली के बारे में चिन्ता थी। उसने कर्वे से उसके लिए एक योग्य वर ढूंढ देने का अनुरोध किया। कर्वे का प्रयास सफल रहा। उन्होंने अपने मामा (श्री परांजपे) और अपनी मामी को रघुनाथ का विवाह बाली से करके उसे पुत्र वधू बनाने के लिए राजी कर लिया। इस विवाह के चार दिन बाद ही अक्का की मृत्यु हो गई।

यद्यपि उन्हें इस बात का संतोष था कि अक्का शान्ति के साथ मरी, लेकिन कर्वे किसी तरह इस क्रूर सत्य को भुला नहीं सके कि वैधव्य के अभि-शाप से ही उनकी इतनी कम उम्र में मृत्यु हुई है।

कर्वे मातभवन थे। अपनी मां के प्रति श्रद्धा की अपार भावनाओं ने उन्हें नारी जाति का सम्मान करना सिखाया। लेकिन उनकी मां के चरित्र तथा कई स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अंतर था। यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे कुछ ऐसी रमणियों को जानते थे, जिन्हें प्रलोभनों में फंसाकर पापी पुरुषों ने अपनी कुवासनाओं की पूर्ति के लिए पथभ्रष्ट किया। उनके गांव मुरुद में एक सधवा लड़की विधवा की तरह रहती थी क्योंकि उसका पति उसका त्याग कर स्वयं लापता हो गया था। दूर के एक रिश्तेदार के घर उसे अपना जीवन सेवावृत्ति करके बिताने को बाध्य कर दिया गया था। ये रिश्तेदार एक पुरोहित थे। उन्हें एक दिन पता चला कि यह बेचारी एक हृदयहीन व्यक्ति के फंदे में फंस गई है। नतीजा यह हुआ कि उसी वक्त उसे अपने हितैषी का भी घर छोड़ देना पड़ा।

तब से किसी को पता चला कि वह कहां चली गई। कुछ बरसों के बाद कर्वे ने उसे नरसोबा वाड़ी में देखा। कोल्हापुर की लोकसेवा परीक्षा के बाद वह अपने मित्र गंगाधर पंत के साथ वहां गए थे। वह हाथ में माला लिए वहां के एक मंदिर में प्रदक्षिणा कर रही थी। वह यहां कैसे आई? अपने निर्वाह के लिए क्या करती होगी? किसके साथ रहती है? क्या वह अकेली है? उसके गर्भस्थ बालक का जन्म क्या यथाकाल हुआ और क्या वह अभी जीवित है? इस प्रकार कर्वे के मन में एक के बाद एक ख्याल आ ही रहे थे कि उस औरत ने भी उन्हें देखा। क्षणभर वह निश्चल खड़ी रही और फिर न जाने किधर गायब हो गई।

राधाबाई की मृत्यु के उपरांत वे स्मृतियां प्रायः उनके मन को झकझोरती थीं। वह उन्हीं पर विचार करते रहते। यद्यपि उनका स्वभाव अविवेकी और उतावला नहीं था। लेकिन यह उनकी अंतरात्मा की एक पुकार थी जिस पर वह सावधानी से विचार करते थे। धीरे धीरे उन्होंने अपना निश्चय पक्का किया। उसके बाद कोई परिस्थिति उन्हें उस संकल्प से हिला नहीं सकी। कई मित्रों ने उन्हें विवाह योग्य किसी कुमारी से दूसरा विवाह कर लेने के लिए बहुत समझाया बुझाया। पर एक विधुर का केवल किसी विधवा से ही विवाह होना उपयुक्त है, ऐसा समझकर उन्होंने निश्चय किया कि इस विषय

मे मा और दादा का समथन पाने के बाद ही वह आगे बढ़ेंगे और यदि किसी विधवा का पाणिग्रहण करने की उन्होने स्वीकृति नही दी तो वह अपने पुनर्विवाह की बात सोचेंगे ही नहीं।

इस तरह इस परिवतन मे कोई आश्चय की बात नही थी कि वही विधुर जो बम्बई छोडते समय लगभग सयासी हो गया था एक बार फिर गृहस्थी बसाने की बातें सोचने लगा। इस घटनान्तर के लिए भी प्रेरणा और शक्ति उनकी लोक-कल्याण की भावना और उनके शिव-सकल्प से मिली। इस बार उनका सकल्प समाज सुधार के क्षेत्र मे व्यक्तिगत उदाहरण प्रस्तुत करने का बना। इस घटना के कुछ वष पहले जब नरहर पत की छोटी बाल-विधवा बहन गोदूबाई बम्बई आई थी और गोपीनाथ खत्री की चाल मे उनके साथ ही एक सम्मिलित परिवार के सदस्य रूप मे ठहरी थी तो सपने म भी कर्वे को यह ख्याल नही आया था कि वही लगभग साठ बरसो के लिए उनकी अर्धांगिनी के रूप म नारी जाति के लिए उनके महान और श्रेष्ठ कार्यों मे जीवन सगिनी होने जा रही है।

अध्याय 6

पूना से बुलावा

महर्षि कर्वे का जीवन आरम्भ से ही त्याग और समर्पण का था उन्होंने दिया बहुत अधिक और लिया बहुत ही कम। सदा उनकी सर्वत्र परोपकार की दुर्दमनीय प्रकृति की अनेकधा अभिव्यक्ति होती ही रहती थी। मुरुद फंड इन प्रयासों का ऐसा ही मूर्त परिणाम था। जब वह एलफिंस्टन कालेज में अध्ययन कर रहे थे, तभी निजी तौर पर अध्यापन करके वह कुछ कमाने भी लगे थे। समस्त आय का एक पैसा प्रति रुपया वह दान के लिए रखते थे। जिस दिन उन्होंने एलफिंस्टन कालेज में अध्यापन प्रारम्भ किया, उसी दिन "पांच प्रतिशत मराठा फंड" भी शुरू किया। वह अपनी कमाई का पांच प्रतिशत इस निधि में दे देते थे। उनके अध्यापक राजाराम शास्त्री भागवत को 'मराठा' शब्द बड़ा आकर्षक लगता था। उन्होंने भी जब अपना निजी शिक्षालय स्थापित किया तो उसके नाम में यह शब्द जोड़ दिया था। कर्वे इस शब्द को इसलिए पसन्द करते थे कि यह उनके अध्यापक को पसन्द था। इस पांच प्रतिशत मराठा फंड की संचित निधि समझ-बूझ कर किसी अच्छे काम में खर्च की जाती। शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती। कर्वे आय-व्यय का हिसाब बड़ी सावधानी से रखते।

कर्वे जब पढ़ने के लिए बम्बई आये उससे बहुत पहले मुरुद के उनके एक मित्र नागोपंत दातार ने बंबई में अपना कारोबार फैला लिया था। वह एक भोजनालय चलाते थे। कर्वे वहीं खाना खाया करते थे। एक बार नागोपंत बीमार हो गये। उनके फेफड़े में कोई बीमारी हो गई। जब वह बहुत बढ़

गई तो भोजनालय बंद करके वह अपनी मा और पत्नी के साथ मुरुद चले गये। बबंई मे श्री दातार ने कर्वे से पाच रुपये कर्ज लिये थे और उन्हें वापस नही कर सके थे। जब अपनी छुट्टियो मे कर्वे मुरुद गये तो वहा उन्होंने नागोपत की तेजी से बिगडती हालत की खबर सुनी। वह उन्हे देखने गये। नागोपत ने जब अपने पुराने ग्राहक को देखा जिससे उन्होंने कर्ज लिया था तो वह लज्जा और पश्चाताप से भर गये।

नागोपत ने धीमी आवाज म पूछा, "तुम क्या अपने रुपये लेने आये हो? मुझे स्वय बडी ग्लानि है। पर बीमारी की वजह से यह सभव नही हो सका"

कर्वे ने उसे मरणासन्न अवस्था मे सात्वना दी और कहा, "नागोपत, घबराओ नही, मैं इसलिए नही आया। मैं तुम्हारा हाल-चाल पूछना चाहता था और तुमसे यह कहना चाहता हू कि मेरे रुपयो को लौटाने की तुम फिक्र न करो। समझ लो कि रुपये लौटाए जा चुके हैं।"

नागोपत को कृतज्ञता प्रकट करने के लिए शब्द न मिले। उन्होंने बडी हिम्मत से एक प्रयत्न भी किया लेकिन कर्वे ने उन्हे फौरन रोक दिया।

"हो सके तो इससे तुम कुछ काम और चला लो।" कह कर कर्वे ने अपनी जेब से तीन रुपये निकाले और उस म्रियमाण व्यक्ति को दिए। नागोपत के गालों पर कृतज्ञता के आसू बह आए। पर प्रयत्न करने पर भी वे बोल न सके।

ये वे पहले तीन रुपये थे जिन्हे अपनी कमाई से प्रति रुपया एक एक पैसा बचाकर उन्होने जोडा था। इस दान से उन्हे इतना सतोष हुआ जितना तीन हजार रुपयो की आमदनी से भी न होता।

सभी कर्वे कुलोत्पन्न लोगो के हृदय मे मुरुद मे दुर्गा देवी के मदिर और विशाल तालाब का बडा गौरव था। उनके पुरखो ने अपने अतीत वभव के युग में नगर म उस मदिर और तालाब को बनाने का सूत्रपात किया था। दोनो ही मुरुद के गौरव थे। धोंडो केशव कर्वे इन दोनो प्राचीन सस्थाओं को अपनी बपौती और अपने पुरखो की विरासत मानते थे। और इसीलिए उनका

संरक्षण करना अपना कर्तव्य समझते थे। यद्यपि परिवार की खुशहाली के दिन बहुत पीछे छूट गये थे, और उनकी अपनी कमाई सिर्फ इतनी थी जिससे उनकी और उनके परिवार की गुजर-बसर हो सके, फिर भी 1889 में उन्होंने मंदिर का जीर्णोद्धार करवाने का उद्यम प्रारम्भ किया। पर तालाब की हालत ऐसी हो गई थी कि उसकी मरम्मत भी नहीं हो सकती थी।

लगभग उसी समय, मुरुद फंड का भी आरम्भ हुआ जिसमें उनके मित्र परशुराम हरि वामले और काशीनाथ पंत काणे ने उनका साथ दिया। 1888 की विजयादशमी के दिन मुरुद फंड का विधिवत् उद्घाटन हुआ। तीनों सहयोगियों की सच्चाई और लगन के फलस्वरूप फंड को स्थायित्व मिला और आज तक उससे कई अच्छे काम हो रहे हैं। इन संस्थापकों के प्रति मुरुद के निवासी कृतज्ञ हैं। उन्होंने इस उपयोगी संस्था को अब तक कायम रखा है।

आज मुरुद के मराठी स्कूल और मिडिल स्कूल स्थायी हो चुके हैं। मूलतः उनकी इस वर्तमान स्थिति का श्रेय भी उन्हीं मित्रों के प्रारम्भिक प्रयत्नों को प्राप्त होता है जिसमें धोंडो केशव कर्वे प्रमुख थे। सन 1889 में अपने तीन-चार मित्रों के साथ उन्होंने घर घर जाकर चंदा इकट्ठा किया ताकि स्कूलों की अपनी इमारत बन सके।

डापोली तालुका के लोगों ने एक अन्य उद्देश्य से कर्वे के नेतृत्व में 'स्नेहवर्धक मंडली' की स्थापना की थी। वह उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए संयुक्त सामाजिक जीवन सुलभ करना था। मंडली का प्रधान कार्यालय तालुका के नगर, डापोली में था। कर्वे की उत्कट इच्छा थी कि मंडली का सदस्य बनने की अनुमति ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्ग के लोगों को भी दी जाए। पहली बैठक में उन्होंने इसके लिये बड़ा सशक्त आग्रह भी किया। उन्होंने दृष्टान्त पेश किए कि तालुका के लोगों ने, उनके पुरखों के काल में अपने उत्सवों में आम तौर पर सभी सार्वजनिक कार्यों के संचालन में ब्राह्मणेतर लोगों को सम्मानपूर्ण स्थान दिया था। यद्यपि उनका यह आवेदन अरण्य-रोदन सिद्ध हुआ लेकिन बैठक के संयोजकों का वास्तविक उद्देश्य तो मंडली स्थापित करना था—वह पूरा हो गया। इस उद्घाटन सभा के बाद सन्

1893 तक उसकी कई सभाएं और उत्सव प्रतिवर्ष अन्य नगरों में भी होते रहे। उस साल कर्वे ने बाध्य होकर स्नेह वर्धक मंडली से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया क्योंकि उसी साल उन्होंने एक विधवा से विवाह किया और यह स्पष्ट था कि इस विवाह के कारण मंडली के बहुत से सदस्यों को उनकी उपस्थिति खटकेगी। कर्वे के हट जाने के साल भर बाद ही मंडली का भी अन्त हो गया।

यद्यपि राधाबाई के देहान्त के बाद कुछ हफ्तों तक कर्वे पहले जैसी ही लगन और तत्परता से अपना काम करते रहे लेकिन उनके हृदय म... और निर्वेद भरा हुआ था। फिर भी कभी-कभी वह अपने भविष्य ... मे सोचते। उन्हें लगता कि अब मैं अपना धन्धा चुनने के लिए स्वतन्त्र ... मराठा हाई स्कूल के कामों में अधिक व्यस्त रहने से उन्हीं में उ... महत्वाकांक्षा और विचार केन्द्रित हो गये और उन्होंने लगभग यह निश्... कर लिया कि अपना शेष जीवन मैं इसी संस्था की सेवा में अर्पित कर दूंगा... उनके इन विचारों और योजनाओं में अचानक एक पत्र ने बाधा डाली। प... उनके एक पुराने मित्र गोपाल कृष्ण गोखले का था। वह पहले एलफिंस्टन कालेज में उनके साथ पढ़ते थे। अब गोखले पूना के फर्गुसन कालेज में प्रोफेसर थे। उस कालेज को 1885 में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल गणेश आगरकर तथा कुछ और लोगों ने मिलकर खोला था। इस कालेज को शुरू करने के कुछ समय पूर्व उन्हीं लोगों ने शिक्षा के क्षेत्र में निःस्वार्थ सेवा करने की भावना से, "न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना की थी। उन लोगों ने डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी की भी स्थापना की थी। स्कूल और कालेज दोनों ही का संचालन इसी के द्वारा होता था। जो लोग दोनों में से किसी संस्था में आजीवन योग देने की इच्छा रखते थे, उन्हें डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी का सदस्य बनाया जाता था।

अपने सहयोगियों से, जिनमें आगरकर प्रधान थे, मतभेद हो जाने के कारण प्रोफेसर बाल गंगाधर तिलक 1891 में फर्गुसन कालेज और डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी से अलग हो गए। तिलक के पद-त्याग कर देने के बाद गोखले को अंग्रेजी पढ़ानी पड़ रही थी, यद्यपि उनका विषय गणित था।

चूंकि अंग्रेजी पढ़ाने के लिए अधिक समय और तैयारी की जरूरत थी, सोसाइटी ने यह आवश्यक समझा कि गणित पढ़ाने के लिये किसी योग्य अध्यापक को नियुक्त करे जो प्रोफेसर गोखले को गणित से छुटकारा दिला सके। तब उन्हें घोंडो केशव कर्वे का ध्यान आया। जो एलफिन्स्टन कालेज में उनके समकालीन छात्र थे और गणित के अध्ययन में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

प्रोफ़ेसर गोखले ने अपने पत्र में कर्वे को फर्गुसन कालेज में अध्यापन करने के लिए आमन्त्रण दिया था।

फर्गुसन कालेज जैसी लब्ध-प्रतिष्ठ संस्था का बुलावा कर्वे को बड़ा सम्मानप्रद और दुर्लभ सौभाग्य जंचा। लेकिन उन्हें आत्म संदेह था। वह सिर्फ बी० ए० तक पढ़े थे। इसलिए इस संशय में पड़ गये कि बी० ए० के विद्यार्थियों को कैसे पढ़ा सकूंगा? उन्हें लगा कि कालेज की कक्षाएं बड़ी-बड़ी होती हैं, उनके छात्र वृन्द को मैं नियन्त्रण में नहीं रख सकूंगा। उन्होंने अपने मित्र को धन्यवाद देते हुए खेद के साथ इस आमन्त्रण को अस्वीकार करने की ठानी। जब उन्होंने अपने भूतपूर्व अध्यापक राजाराम शास्त्री से इस निर्णय के बारे में बात की तो उन वयोवृद्ध तथा कृपालु हितैषी ने उनकी अस्पष्ट शंका को उपहासास्पद बताया। उन्होंने कहा, "कर्वे यह मूर्खता होगी, ऐसा मत करो, अगर तुमने यह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया तो आजीवन अपनी मूर्खता पर पछताओगे।"

कर्वे ने नम्रतापूर्वक अपने गुरु से कहा, "गुरुजी, शिक्षण का सुयोग मुझे यहां भी मिला है मेरे लिए वही बहुत है। मैं मराठा स्कूल को छोड़ने की बात ही क्यों सोचूं?"

"वह इसलिए कि फर्गुसन कालेज में तुम्हारी जरूरत है और वहां तुम्हें अपने हृदय की अंतरंग अभिलाषा को पूरी करने के और भी अच्छे अवसर मिलेंगे।"

कर्वे ने राजाराम शास्त्री का परामर्श शिरोधार्य किया। यद्यपि उस वयोवृद्ध सज्जन को भी एक प्रतिभाशाली कर्मठ व्यक्ति की सेवाओं से वंचित होने का दुःख था, किन्तु शास्त्री जी ने उस समय केवल अपनी ही संस्था की

बात नहीं सोची। वह जानते थे कि कर्वे की प्रतिभा कालेज में ज्यादा निखर उठेगी और वहां के लिए वे अधिक उपयोगी हैं।

पहली भेंट में यह तय हुआ कि कर्वे दो वर्ष डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी में परिवीक्षाधीन सेवा करेंगे। दो महीनों बाद 15 नवम्बर, 1891 को, वे गणित के प्राध्यापक नियुक्त हुए और फर्ग्युसन कालेज में शिक्षण आरम्भ किया।

पर दो साल की परिवीक्षा अवधि बीतने के पहले ही उन्हें डेक्कन एजूकेशन सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना लिया गया। उसके एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में उनका सम्बन्ध सोसाइटी से 1914 तक बना रहा। तब तेईस वर्ष सोसाइटी की सेवा करने के बाद वे सेवा निवृत्त हुए और उन्हें निवृत्ति-वेतन मिलने लगा।

वे बम्बई में केवल अध्यापक थे, पूना में प्राध्यापक बनकर आये, पर इस नए वातावरण के अनुकूल बनकर उसमें घुल मिल जाने में उन्हें दिक्कत नहीं हुई। कालेज के छात्रों को निजी तौर से गणित पढ़ाने का अनुभव उन्हें था, माध्यमिक कक्षाओं के प्रथम वर्ष के पूर्ववर्ती स्नातक उनके पास पढ़ने आया करते थे। जब तक उनके ममेरे भाई प्रोफेसर आर० पी० परांजपे इंग्लैंड से लौटकर फर्ग्युसन कालेज में वरिष्ठ प्राध्यापक नियुक्त नहीं हुए, कर्वे ही एकमात्र प्रोफेसर थे जो वहां गणित पढ़ाते रहे। प्रोफेसर परांजपे के आने पर वे कुछ समय निकालकर न्यू इंगलिश स्कूल में भी पढ़ाने लगे। कुछ वर्षों तक तो उन्होंने सिर्फ न्यू इंगलिश स्कूल में ही अध्यापन किया। सन 1912 में उन्होंने नौकरी के बीस साल पूरे कर लिए और यद्यपि वे सेवा निवृत्ति के लिए स्वतन्त्र थे, लेकिन सोसाइटी ने उन्हें दो वर्षों के लिए और रोक लिया।

जब कर्वे पूना आए तो वे विधुर थे। अपने जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने धन और आराम की उपेक्षा की। परिवार के प्रति स्नेह और कर्तव्य से परिचालित होते हुए भी वे अनासक्त थे। तैंतीस वर्षीय युवा प्राध्यापक आयु में कनिष्ठ लगने पर भी ज्ञान और अनुभव में वयोवृद्ध थे और युवकों की तरह समाज सेवा का भार वहन करने को उनकी भुजायें सदा उद्यत रहती थीं। अपनी आतंरिक प्रेरणा से वह अनवरत सत्कार्य में लगे रहते और उस आयास को ही वह अपना पुरस्कार मानते थे।

अध्याय 7

साहसिक कदम

डेढ़ सौ साल से भी अधिक पुरानी घटना है जब रत्नागिरी जिले मे देव रुख के एक सम्पन्न निवासी केशवराव जोशी ने पचास साल की उम्र में दूसरा विवाह किया था क्योंकि पहली पत्नी से उनके कोई बच्चा नही हुआ था। विवाह के समय दूसरी पत्नी की आयु मुश्किल से दस वर्ष की रही होगी। इस पत्नी से उनके सात बच्चे हुए—चार लडके और तीन लडकिया। ज्येष्ठ पुत्र बालकृष्ण केशव जोशी, नरहरपत और गोदू बाई के पिता थे। उस अनमेल विवाह का स्मरण, जिसके लिए उनकी दादी को राजी होना पडा था, गोदू बाई बडे दुख से करती थी। उनका अपना हाल भी शायद ही उससे अधिक अच्छा था। जब वह आठ वर्ष की थी, उनका विवाह श्री नाटू से हुआ था। तब श्री नाटू की पहली पत्नी का देहान्त हो चुका था। नाटू गोदू बाई से सत्रह वर्ष बडे थे। विवाह बिना किसी धूमधाम के भलजन मे हुआ। वही उनके माता-पिता रहते थे। विवाह के तीन महीने बाद ही श्री नाटू की मृत्यु हो गई और गोदू बाई विधवा हो गई।

इक्कीस वर्षीया गोदू बाई ने नियति के द्वारा इस प्रकार अपरिहार्य रूप से प्रस्तुत वैधव्य की परिस्थिति को विवश होकर स्वीकार किया और, जैसा कि उन दिनो हर विधवा करती थी, सर घुटाया और लाल पहनावा पहना। वैसे उनकी सास या ससुर नही चाहते थे कि उनकी असहाय वधू इस तरह असुदर बने। परम्परानिष्ठ होते हुए भी वे उदार विचारो के थे, वे दयालु भी थे, पर लाचार थे। वे शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध न तो आचरण कर

सकते थे, न उनके आदेश की अवहेलना ही कर सकते थे। इन बातों मे समाज की मान्यता ही चलती थी और जो लोग सम्मानपूर्वक समाज मे रहना चाहते थे, उन्हे उसके आगे झुकना पडता था।

गोदू बाई अपने मायके देवरुख जाकर अपने माता पिता के साथ हर साल एक महीने तक रह आती। एक बार उनके भाई नरहरपत भी वहा थे तो उन्होने बहन को अपने साथ बबई ले जाना चाहा। उनका विचार था कि वहा वह शिक्षा पा लेगी। बूढी मा को यह विचार पसद न आया। कुछ समय बाद जब नरहरपत की पत्नी का देहान्त हो गया और उन्हें घर गृहस्थी की देख भाल के लिए किसी की जरूरत पडी तो उनकी मा ने गोदू बाई को जाने की अनुमति दे दी। तब गोदू बाई अपनी बडी बहन अक्का से मिलने देवरुख गई हुई थी। अक्का उस समय मृत्युशैया पर थी। अतजन लौटने के बदले गोदू बाई अपने भाई नरहर पत के साथ बबई चली आईं।

चौबीस साल की उम्र मे गोदू बाई का अक्षरारम्भ हुआ और गिनती पहाडा शुरू किया। कुछ दिन उन्हे नरहरपत ने स्वय पढाया, लेकिन यह उन्हे सरल नही लगा। इसलिए उन्हे अखबारों के इस समाचार से बडी प्रसन्नता हुई कि बम्बई मे पडिता रमाबाई लडकियो के लिए एक पाठशाला खोलना चाहती है।

पडिता रमाबाई ने कहा था कि वह अपने शिक्षालय मे केवल बीस साल तक की वयस्क लडकियो को लेंगी। गोदू बाई चार साल बडी थी। लेकिन इससे नरहरपत हतोत्साह नही हुए। वह अपनी बहन को रमाबाई के पास ले गए। चौबीस साल की होने पर भी रमाबाई ने उन्हे अपने स्कूल मे भर्ती करना स्वीकार कर लिया तो उन्हे अचरज हुआ। पर सच तो यह था गोदू बाई पहली छात्रा थी जो उनके स्कूल मे भरती होने के लिए आई थी और जब शारदा सदन चालू हुआ तो वह ही उसकी पहली और एकमात्र छात्रा थी।

हाथ मे छाता लिए और परो मे जूता डाले गोदू बाई प्रति दिन गिरगाव से चौपाटी जाती। चौपाटी मे एक बगले मे शारदा सदन खोला गया था।

उन दिनो केशान्त कराई हुई किसी विधवा द्वारा जूता पहनना न केवल अजीब बात थी, बल्कि जो भी देखता, उसको यह दृश्य घृणास्पद लगता।

स्कूल जाने के पहले गोदू बाई को नित्य बारह व्यक्तियो के परिवार का भोजन भी बनाना पडता था। उन्हे अपने उस भतीजे की भी देख भाल करनी पडती थी जो मातृहीन था। यह सब उनके बूते से बाहर की बात थी। कुछ समय बाद तय हुआ कि गोदू बाई पडिता रमाबाई के शारदा-सदन मे ही रहें और वही खाना खाए। शारदा सदन मे भी गोदू बाई को काम से छुटकारा नही मिला, लेकिन वह उतना श्रमसाध्य नही था। पडिता रमाबाई के विद्यालय की छात्रा बनने के पूर्व जिन दिनो गोदू बाई अपने भाई के साथ रह रही थी उनको पढाने में कर्वे भी (जो उन्ही के साथ रहा करते थे) अपने मित्र की मदद करते थे। जब गोदू बाई पडिता रमाबाई के साथ रहने लगी तो नरहरपत उनसे मिलने शारदा सदन जाया करते थे। कभी कभी कर्वे भी उनके साथ चले जाते थे।

शारदा सदन मे निवास गोदू बाई के लिए बहुत सुयोगकर था। पडिता रमाबाई बडे विचारो की महिला थीं। उनकी इच्छा शक्ति भी बडी प्रबल थी। वह शारदा सदन मे अपनी छात्राओ की शिक्षा के लिए अपनी बातो से ही नही बल्कि अपने आचरण के द्वारा भी उदाहरण प्रस्तुत करती थी। काम के प्रति उनमे उतनी ही लगन थी, जितनी ईश्वर के प्रति भक्ति। वह अपनी छात्राओ से कहा करती कि किसी भी काम मे सफलता आसानी से नही मिला करती। वह उनसे कहतीं 'स्त्री का अपने आप से बडा कोई दूसरा दुश्मन नही है। तुम्हे अपन उद्धार के लिए स्वय ही अपने को तैयार करना है।" वह उनके मन मे समाज सेवा के बीज भी बोया करती। वह कहती, 'अगर तुम एक भी विधवा को पढा लिखा सको तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूगी।"

उनकी बातो ने गोदू बाई के मन में जड जमा ली।

रमाबाई के विशाल हृदय मे अनेक कोमल कोने थे। उनमे से कुछ पर अनाथो ने कब्जा जमा रखा था। वह गरीबो और परित्यक्त बच्चो

पर जो दया बरसाती, वह एक ऐसा उदाहरण था जिसका गोदू बाई ने बाद मे अपने जीवन मे अनुकरण किया।

बम्बई मे शारदा सदन की स्थापना के डेढ वर्ष बाद पंडिता रमाबाई उस संस्था को पूना ले गईं। अन्य छात्राओ के साथ गोदू बाई भी पूना चली गई। लगभग उन्ही दिनो कर्वे भी फर्ग्युसन कालेज मे काम करने के लिए पूना चले गए। गोदू बाई अपने पिता अथवा भाई से मिलने पूना मे मेहेंदाल के बाडा जाया करती थीं। वहीं प्रोफेसर कर्वे भी ठहरे थे।

गोदू बाई के पिता बालकृष्ण केशव जोशी एक दयालु व्यक्ति थे। गाव के लोग उन्हे बाबा (पिता) कहा करते थे। वह राम के भक्त थे। उनकी उपासना पारम्परिक सम्प्रदायो की सी नही थी। उनके राम सर्वव्यापी ईश्वर थे, सृष्टि के कर्ता और सभी के दयालु पिता थे। राम मे उनकी अडिग भक्ति थी। उनकी तीन लडकिया थी। तीनो ही के पति जाते रहे थे और सबसे बडी तो विधवा होने के कुछ ही दिनो बाद स्वयं भी स्वर्गगामिनी हो गई। उनके बडे लडके नरहरपंत भी विधुर हो गए। बाबा ने इन सारी विपत्तियों को शान्तिपूर्वक झेला लेकिन उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी कि मेरे बच्चे एक बार फिर सुखी हो। गोदू बाई विवाह के तीन महीने बाद ही विधवा हो गई थी। मैं उसका पुनर्विवाह क्यो न करूं? वह समाज के विरोध से नही डरते थे। ऐसा करने की शास्त्रीय परम्परा न होने पर भी उन्होंने गोदू बाई को घर मे स्थापित देवताओ की पूजा करने की अनुमति दे रखी थी। उन्होने उससे कहा, 'जब यह राम ही की इच्छा है कि तुम इस हालत मे रहो तो वह तुम्हारे हाथ की पूजा भी अस्वीकार नही कर सकते।"

शारदा सदन पूना चला आया तो बाबा भी कभी-कभी अपनी पुत्री से मिलने पूना आया करते। वह अपने पुराने मित्र श्री साठे के साथ ठहरते, लेकिन प्रोफेसर कर्वे से मिलना कभी न भूलते। एक बार बाबा ने कर्वे से कहा, 'तुम और नरहरपंत कब तक इस तरह रहोगे?' उनका मतलब उनके विधुर जीवन से था।

कर्वे ने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता, बाबा, कि नरहरपत के मन मे क्या है। उनसे मिले मुझे काफी अर्सा हो गया और अभी तक हम लोगो ने भविष्य की किसी योजना पर विचार नही किया है।"

"क्या तुमने अपने भविष्य का विचार किया है? शेष जीवन क्या विधुर रह कर ही विताना चाहते हो?"

"नही, लेकिन मैं दूसरे विवाह की बात तभी सोच सकता हू जब किसी विधवा से कर सकू।"

"तुम्हे ढूढने का कष्ट नही मिलेगा तुम सिर्फ 'हा' कह दो।"

प्रोफेसर कर्वे बाबा का सकेत समझ गए। वह कुछ क्षण चुप रहे। फिर पूछा, "बाबा, आप जिसका सकेत कर रहे हैं, क्या सचमुच उसको करने के लिए तैयार हैं?"

"तुम जानते ही हो घोडू, मैं कभी ऐसी बात नही कहता जो मेरे हृदय से न निकली हो।"

"अगर आपकी यही इच्छा है तो आप इसके बारे मे गोदू बाई से बात करके पहले उनकी राय जान लें।

अगले दिन बाबा शारदा सदा गए और उन्होने अपनी पुत्री से बात की।

यह कोई पहला अवसर नही था जब बाबा ने गोदू बाई से पुनर्विवाह की चर्चा की हो। लेकिन जब भी उन्होने बात की, वह कह देती "नही बाबा, मुझ से फिर विवाह करने की मत कहो। मेरा यदि वैध०पयोग है तो दूसरा पति भी मर सकता है और मुझे यथापूव छोड दे सकता है। मैं सोचती हू मैं जैसी हू, अच्छी हू। मखजन मे मेरी ससुराल के लोग मेरे प्रति दयालु हैं और मुझसे अच्छा व्यवहार करते है। मैं अपना शेष जीवन उन्ही के साथ बिता ऊगी और उनकी सेवा मे जितना भी सुख पा सकूगी, उसी से सन्तुष्ट रहूगी।"

पडिता रमाबाई ने भी गोदू बाई को पुनर्विवाह के लिए राजी करना चाहा। उनके कई बगाली मित्रो ने इस विषय मे जो प्रस्ताव किय थे उन्हे भी

उसे बताया पर गोदू बाई ने उनसे कहा कि किसी भी हालत में वे पुनर्विवाह नही करना चाहती ।

लेकिन यह उनका अंतिम निश्चय नही था । कभी कभी वह अपने भविष्य के बारे मे सोचा भी करती, उनकी छोटी बहन कृष्णा भी विधवा थी । उसका एक बच्चा भी था । कब तक हम लोग अपने पिता या भाई पर बोझ बनी रहेंगी ? अगर मैं पुनर्विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लू तो कृष्णी और उसके लडके की कुछ सहायता भी कर सकती हू ।

गोदू बाई ने बाबा के इस नूतनतम प्रस्ताव के बारे मे पंडिता रमाबाई से पूछा तो उन्होने उत्तर दिया, 'कर्वे सशक्त और पुष्ट नही दिखते । छोटे और दुबले-पतले हैं । कालेज से उन्हे वेतन भी अधिक नही मिलता । फिर, बारह साल का उनका एक लडका भी है ।"

गोदू बाई को लगा वह ठीक कहती हैं । बहरहाल, पंडिता ने उन्हे एक साल तक रुकने और उसके बाद निर्णय लेने की सलाह दी ।

जो भी हो उन्होने एक साल प्रतीक्षा नही की । प्रस्ताव पर काफी सोच विचार करने के बाद गोदू बाई ने निश्चय किया कि यद्यपि दूसरा विवाह करने मे किसी हद तक जोखिम तो है, लेकिन फिर भी इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना ही बुद्धिमानी होगी । वह सत्ताईस साल की हो चुकी थी और अपनी पढाई पूरी करने के लिए उन्हे अभी बहुत बरसो तक शारदा सदन में रहना था । उसके बाद अपने लिए कोई काम ढू ढ पाना उनके लिए बहुत कठिन होगा ।

उन्होने अपना निर्णय बाबा को बता दिया और बाबा ने कर्वे को सूचित कर दिया ।

शारदा सदन में गोदू बाई के निवास स्थान का अंतिम दिन था 11 मार्च 1893 । उस दिन प्रात काल से ही उनके अंदर घबराहट और प्रसन्नता के मिले जुले भाव उमडने लगे । उनकी सहेलियो ने वधू के अनुरूप वस्त्र आदि पहना कर उनको सवारा । शारदा सदन म रहते रहते उन्होने अपने केश फिर से बढा लिए थे । लगभग बीस बरसो के बाद उन्होने

अपनी उंगली से अपने माथे पर कुंकुम की बिंदी लगाई। इसके बाद वह पंडिता रमाबाई और अपनी सहेलियों के साथ श्री अन्नासाहब भंडारकर के घर गई। श्री भंडारकर विधवा विवाह के समर्थक थे और सन 1874 में उनकी विधवा बेटी गंगूबाई का पुनर्विवाह लक्ष्मणराव भंडारे से सम्पन्न हुआ था। यह विवाह भी उनके घर में होने वाला था। लगभग चालीस आमंत्रित मित्र उपस्थित थे। उनको निमन्त्रणपत्र फर्ग्युसन कालेज के प्रिंसिपल जी० जी० आगरकर और प्रोफेसर कर्वे के पुराने मित्र रामभाऊ जोशी ने अपने हस्ताक्षर करके भेजा था। वेदमूर्ति भीष्मभट्ट जी वझे एक सनातनी पुरोहित थे। उन्होंने विवाह का आचार्यत्व स्वीकार किया। बड़े उत्साहपूर्ण वातावरण में विवाह-संस्कार पूरा हुआ। पर उसमें किसी प्रकार के ठाठ-बाट का आयोजन नहीं किया था। कन्यादान भी नहीं किया गया। परिणय के बाद पंडिता रमाबाई ने शारदा सदन में प्रीतिभोज का आमंत्रण दिया और उसके प्रबन्ध की स्वयं देखभाल की। गोदूबाई उनकी पहली छात्रा थी। उनका हृदय सुप्रसन्न था कि वह अपना घर बसाने जा रही है। उन्होंने उन्हें बहुमूल्य उपहार दिए और शारदा सदन की अन्य छात्राओं ने एक कविता के समर्पण से उनका स्नेहाभिवंदन किया। उसकी रचना उन्हीं छात्राओं में से एक ने इस अवसर के लिए की थी।

किन्तु कर्वे या गोदूबाई के परिवार का कोई भी व्यक्ति विवाह के समय उपस्थित नहीं था। कर्वे की मां और दादा ने अनिच्छापूर्वक स्वीकृति तो दे दी थी, लेकिन विवाह में उनका सम्मिलित होना बड़ा कठिन था। इतना पर्याप्त था कि बाबा ने इस विवाह को कराने में पहल की थी। कर्वे नहीं चाहते थे कि यह बात फैले, लेकिन किसी न किसी तरह प्रिंसिपल आगरकर के पत्र 'सुधारक' में इसका उल्लेख आ ही गया। इस उल्लेख मात्र से देवरुख के लोगों को बाबा को कड़ा दण्ड देने का मौका मिल गया, नगर के तीन मंदिरों के जीर्णोद्धार के लिए उन्हें नकद सौ रुपये देने पड़े और उन्हें प्रायश्चित्त के लिए भी मजबूर किया गया।

प्रोफेसर कर्वे ने एक विधवा के साथ दूसरा विवाह किया था, इस घटना की समाज में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। सामाजिक और धार्मिक आधार पर

इसकी भरसना और निन्दा करने वालो की चिल्लपो से उठने वाली आवाज उन लोगो की वाणी से कही ऊची थी जिन्होने इसका समथन किया था। सौभाग्य से उन्ह मकान-मालिक गगाधर पत मेहदाले की सहानुभूति प्राप्त थी जिसने विवाह के बाद अपने मकान में उनके रहने पर कोई आपत्ति नही की। प्रोफेसर कर्वे के इस साहसिक कदम को उठाने पर बम्बई के 'इदु प्रकाश' और 'सुबोध पत्रिका', पूना के 'केसरी, नान प्रकाश' और 'सुधारक', अकोला के 'वैदभ', वेंगुर्ला के 'वेंगुर्ला वत्त' जैसे पात्रा ने उनके इस काय की प्रशसा करते हुए उन्हे बधाई दी थी। दूसरो ने कडवे शब्दों मे इसकी निन्दा की और हिन्दू समाज पर इस कृत्य के प्रभाव के बारे मे चिन्ता प्रकट की।

2 फरवरी 1894 को प्रोफेसर कर्वे ने बोस्टन (अमरीका) की रमाबाई ऐसोसिएशन की अध्यक्षता श्रीमती जे० डब्ल्यू० एंडयूज को एक पत्र लिखा, जिसमे उन्होने अपनी भावनाओ को इन शब्दा मे अभिव्यक्त किया

" पडिता रमाबाई ने अपनी पुस्तक 'द हाईकास्ट हिंदू विमन' मे हमारे समाज की उच्च वण की विधवाओ की स्थिति का बडे करुण और सजीव शब्दो मे वणन किया है। मं केवल इतना और कहना चाहता हू कि यदि शारदा सदन नही होता तो मेरी पत्नी की भी वही गति हुई होती जो उसकी अन्य अधिक अभागिनी बहनों की है।

"मेरी पत्नी को चार साल तक सदन मे रहने से असख्य लाभ हुए हैं, उन सबका उल्लेख करना सहज नही है। वह वहा से नूतन ज्ञान की जिज्ञासा और एक विशाल हृदय तथा प्रबुद्ध मन को लेकर आई है। जीवन और सासारिक कतव्य के प्रति भी उसके विचारो मे महत्वपूण परिवतन हुए हैं।

" मैं पडिता रमाबाई का भी कृतज्ञ हू, वे सदन की लडकियो की सच्ची मातृस्वरूपा। उनकी अनुशासनप्रियता तथा व्यवस्था की महान क्षमता ने सदन को इतनी सफलता दी है।"

गोदूबाई ने (पति ने अब उनका नवीनी करण 'आनदी बाई' कर दिया

था) अपने पति की भावी परिस्थिति मे पूरा साथ दिया। यद्यपि उन्होने अखबारी हमलो की ज्यादा परवाह नही की, लेकिन व्यक्तिगत मित्रो और सम्बन्धियो द्वारा की गई अपनी आलोचना और निन्दा का सामना करना उनके लिए काफी कठिन रहा। उनका अपने पुराने मित्रो से कुछ मनमुटाव होना तो अवश्यम्भावी था, लेकिन मुरुद के लोगो का व्यवहार असह्य वेदना-प्रद था। किन्तु यह अप्रत्याशित नही था। ग्रीष्मावकाश मे प्रोफेसर कर्वे और आनदी बाई मुरुद गये तो वहा के निवासियो में प्रचड अनावृत क्रोध का सामना, करना पडा। जब वे अपने मित्रो से मिलने जाते तो उन्ह बैठने के लिए अलग आसन दिया जाता। उन्हे दूर बैठाकर वे उस व्यक्ति की छूत (सपक-दोष) से बचना चाहते थे जिसने उनके विचारा की तुला म धम के विरुद्ध आचरण किया है। कुछ लोगो ने आग्रह किया कि विधवा से विवाह करने के कारण चूकि कर्वे अब ब्राह्मण नही रहे अत मुरुद फड के सदस्यो की सूची से उसका नाम हटा देना चाहिए। उनके मुरुद मे पहुचने के दूसरे ही दिन मुरुद के निवासियो की एक सभा मे निश्चय किया गया कि कर्वे और उनकी पत्नी को किसी परिवार, सावजनिक सभा या उत्सव मे नही आने देना चाहिए। वहा यह भी निश्चय हुआ कि अब यदि दादा अपने भाई और उसकी पत्नी को अपने घर मे आने देते है तो उनका और उनके पूरे परिवार का पूरी तरह से सामाजिक बहिष्कार किया जाए। स्नेह वधक मण्डली के सदस्या ने भी एक बैठक कैलाशी मे की। उसमे उन्होने बहुमत से यह निश्चय किया कि उनके द्वारा आयोजित किसी भी समारोह मे कर्वे को भाग न लेने दिया जाए।

मुरुद म नागरिको द्वारा अपने कठोर सामाजिक बहिष्कार के लिए कर्वे तैयार थे, लेकिन अपने भाई के विरुद्ध प्रस्तुत प्रतिबधो को जान कर उन्ह बडी तकलीफ हुई। इन प्रतिब धो का प्रयोजन कर्वे को अपने भाई, मा, अवाताई तथा सभी सम्बन्धियो से अलग करना था जिनका उनके प्रति इतना स्नह था और जिन्हें वह खुद भी बहुत मानते थे। वह खुशी से सामाजिक बहिष्कार झेल सकते थे, लेकिन अपने प्रियजनो से बिछुड जाना वह किसी तरह सह नही सकते थे। यह अलगाव उनके लिए तो दु खदायी था ही, पर इस प्रकार

मा, दादा और अवाताई को दुख पहुचाना उससे कही अधिक कष्टकर था। दादा को बडी गहरी वेदना मिली। उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था, उनके सात बच्चे भी जाते रहे थे, लेकिन इन विपत्तियो मे उन्होने अपना मानसिक सतुलन नही खोया था। जब उन्हे नागरिका के इस मर्मान्तक निर्णय की सूचना दी गई तो वह सारा सन्तुलन और मनोबल खो बैठे। कुछ समय के लिए उनकी मानसिक स्थिति बडी दयनीय और चिन्तनीय हो गई। जो कुछ हो रहा था, उसे कर्वे जानते थे, लेकिन असहाय और निरुपाय थे। उन्हे अपने ही घर में आने जाने की इजाजत नही थी। वह अपनी ही मा अथवा अवाताई से भी बात तक नही कर सकते थे। जब उनके मामा, श्री पराजपे, दादा को अपने घर लिवा ले गए, तब कर्वे ठीक ठीक अनुमान लगा पाये कि उनके मन को चोट कितनी साघातिक थी।

अपनी पत्नी के साथ कर्वे अपने पैतृक मकान के पास एक धुडसाल म ठहरे थे। पडोसिने उनकी गतिविधि से चौकस रहती थी वे बढा चढा कर अथवा गलत बातें भी फैलाती और आनदीबाई की अपयशपूर्ण दूषित गाथाओ को गढ गढ कर फलाने मे विशेष आनद लेती थी। कर्वे ने बिना किसी दिक्कत के यह सब सहा लेकिन यह आनन्दीबाई के लिए दुस्सह था। उस नगर मे वह शायद ही किसी को जानती और ऐसा कोई नही था जो उनसे एक भी मीठा शब्द बोलता। जब उन्होने अपनी कलक-गाथाए सुनीं तो उनका आत्म सयम का बाध टूटा, अपने को अब रोक न पाई और आस-पास जो भी मिला, उसी पर बरस पडी।

कर्वे ने सोचा, अगर उन्हे इस बात का अनुमान होता कि क्या कुछ होने जा रहा है और खास तौर से मुरुद के लोगो ने उनके परिवार वाला के साथ जो कठोर व्यवहार किया था, उसका उन्हे आभास होता तो सम्भवत वे यह कदम उठाते ही नही। उन दिनो दादा की हालत चिन्ताजनक हो रही थी, वह बेहद दुखी थे, जब उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ तब उन्होंने सन्तोष की सास ली। उन्होने निश्चय किया बीती को बिसार कर आगे की चिन्ता करेंगे। कभी पश्चाताप न करने की प्रतिज्ञा करके इस सकल्प के साथ वह भविष्य की ओर बढे कि 'न दैन्य न पलायनम्'।

अध्याय 8

सेवा का व्रत

कर्वे मुरुद से लौटे। अब प्रोफेसर कर्वे और उनकी पत्नी ने सेवामय कर्म का जीवन अपनाया। बहुत बरसों तक कठिनाइयां झेलकर उन्होंने सुख की अवज्ञा और श्रम को ही प्यार करना सीखा था। मुरुद के उस आपस में मिलकर सहे हुए दोनों के दर्दनाक अनुभव ने, उन्हें अभिन्न और एकाकार जैसा बना दिया। अब वे एक दूसरे को और गहराई से जानने लगे और एक दूसरे के और निकट हो गए।

लेकिन उनके विरोधियों ने ठीक इसके विपरीत कल्पना की। उनके पूना लौटने के कुछ ही दिनों बाद नरहर पंत अपने किसी काम से कुछ समय के लिए पूना आए। बात की बात में अफवाहें फैलने लगीं। किसी ने कहा, नरहर पंत इसलिए पूना आए हैं कि उन्हें अपनी बहन और कर्वे के बीच आए दिन के झगड़ों की खबरें मिलती रहती थी जिनसे वे बेचैन हैं। दूसरे ने कहा, उनके पूना आने की और वजह हो भी क्या सकती है? यानी उन लोगों ने यहाँ सोच रखा था कि कर्वे और आनन्दी बाई की बनती नहीं है और वे अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की सोच रहे हैं।

पूना में कर्वे को ज्यादा परेशानी नहीं उठानी पड़ी। विवाह के बाद, फर्गूसन कालेज के प्रिंसिपल आगरकर ने उन दोनों को अपने यहां भोजन का निमंत्रण दिया। श्रीमती आगरकर ने आनन्दीबाई को, पुरानी रीति के अनुसार एक नारियल और खान[1] के साथ आशीर्वाद दिया। ये वस्तुएं सिर्फ उन्हीं विवाहिता स्त्रियों को दी जाती हैं, जो विधवा नहीं होतीं। अब प्रोफेसर भी

1, खान ब्लाउज का कपड़ा

सहानुभूति रखते थे यद्यपि उनकी पत्नियां इस बात की सावधानी बरतती थी कि हल्दी-कुंकू² जैसे उत्सवो में आनन्दी बाई उनके बहुत पास न आने पाए।

विवाह के तेरह महीने बाद उनके पुत्र शंकर का जन्म हुआ। आनन्दीबाई प्रसव के पूर्व अंतिम दिन तक घर का लगभग सारा काम करती रही। घर म कोई दूसरा सयाना नही था और उन्हें परिवार म रहने वालो की सुख-सुविधा का भी ध्यान रखना पडता था। दादा की लडकी मानू और रघुनाथ पराजपे की पत्नी वानी घर के काम धन्धे मे उनका हाथ बटाती थीं। पुनर्विवाह से पहले कर्वे की पत्नी का काफी समय तक चौका चूल्हा का अभ्यास छूट चुका था और न घर-गृहस्थी की ही पूरी जिम्मेदारी उन पर थी। अत कुछ समय तक नई जिम्मेदारियो के साथ तालमेल बैठाना उनके लिए बहुत मुश्किल रहा। गर्भवती होने के बाद इन जिम्मेदारियो को निभाना उनके लिए और भी कठिन हो गया। लेकिन वह डरती या घबराती नही थी। उन्होंने गृह-काय में बडी दक्षता दिखाई और खुशी-खुशी सारी जिम्मेदारी ओढ ली। जब उनका पहला बच्चा हुआ तो पडिता रमाबाई का सुझाव था कि उसका नाम शंकर रखा जाए। प्रोफेसर कर्वे ने इसे पसद किया, क्योकि 'शंकर' का अथ था 'कल्याण करने वाला।'

अब आनन्दी बाई के लिए अपनी पढाई लिखाई जारी रख सकना सभव नही था लेकिन उन्होंने उसे छोडा नही। कुछ समय तक वह हुजूरपगा की कन्या पाठशाला म जाती रही। शंकर के जन्म के अठारह महीनो के अन्दर ही उन के दूसरा बच्चा हुआ। वह भी लडका ही था लेकिन वह चौबीस घटो से ज्यादा नही बच सका। इसके बाद उन्होंने हुजूरपगा मे अपनी पढाई फिर शुरू कर दी। लगभग इसी समय, अपने लडके की शिक्षा दीक्षा के लिए उनकी छोटी बहन पार्वतीबाई अथावले पूना आई। पार्वतीबाई विधवा थी। प्रोफेसर कर्वे की सलाह से वह भी हुजूरपगा की कन्याशाला मे पढने लगी।

---

2 हल्दी कुंकू सधवा औरतो द्वारा किया जाने वाला एक सामाजिक कृत्य

प्रोफेसर कर्वे का ख्याल था कि हर व्यक्ति को, यहा तक कि स्त्रियों को भी किसी न किसी काय मे प्रवीण अवश्य बनना चाहिए, ताकि आवश्यकता के समय अपने पावो पर खडा हुआ जा सके। अत उन्होने नर्स और दाई का काम सीखने के लिए आन दीबाई को नागपुर के डफरिन अस्पताल में भर्ती करा कर वहा भेज दिया। आनन्दीबाई नागपुर में एक वष तक रही।

प्रोफेसर कर्वे ने एक विधवा से विवाह करके समाज सुधार के क्षेत्र मे पहला कदम उठाया था। अब उन्हे इस दिशा मे जनमत तैयार करने का काम करने की पुकार अपनी अन्तरात्मा से उठती हुई जैसी सुनाई दी। उन्हे लगा कि जो लोग मेरे जसा कदम उठाना चाहते हैं, उनका माग सुगम बनाने के लिए कुछ उठा न रखना चाहिए। वे उदास और दुखी रहते थे क्योंकि यद्यपि विधवा पुनर्विवाह कानून को बने चालीस वष से भी अधिक समय गुजर चुका था फिर भी ऐसे पुनर्विवाहो की सख्या बहुत कम थी। अतः उन्होने इस दिशा मे सगठित प्रयास करने का निश्चय किया। उन्होने अपनी आत्म-कथा मे लिखा—

"विधवा के साथ अपना विवाह करने के लिए प्रस्तुत होना मेरे जीवन की ऐसी व्यावहारिक घटना थी जो मेरे उस यत्किंचित विनम्र सेवा काय की नीव बनी, जिसे मैं बाद मे अपने समाज की महिलाओं के लिए कर सका। इस जिम्मेदार कदम को उठाने के बाद ही मैं जान सका कि तब तक मैं जीवन को जैसा जानता था वह उससे कहीं अधिक गम्भीर है, और उससे मुझ पर एक अनिवाय कत्तव्य का भार आ पडा है और वस्तुत मेरा यथाथ काम अब शुरू हुआ है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के योग्य हू इस क्षमता को प्रमाणित करने के लिए मैं यथासम्भव पूरा प्रयत्न करना चाहता था। मैंने तत्काल अनुभव किया कि किसी योजना को कुशलतापूवक व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एक विश्वसनीय उत्तरदायित्वपूण सगठन आवश्यक होता है और मैंने सोचा कि विधवा-विवाह-समिति का सगठन किया जाय।"[1]

विष्णु शास्त्री पडित ने जिस विधवा विवाहोत्तेजक मण्डल की स्थापना की थी, वह उनके जीवन तक ही चल पाया। सन 1875 मे विष्णु शास्त्री के असामयिक निधन के बाद विधवा विवाह काय के प्रति लोगो का उत्साह धीमा

1 लुविग बैक, पृष्ठ 53

पड़ गया। महादेव गोविन्द रानाडे और सदाशिव राव केलकर जैसे इसके प्रबल समर्थक तो थे, लेकिन वे भी इस काम के लिए अपना पूरा ध्यान और समय नहीं दे पाते थे।

विदर्भ में श्री वामनराव कोल्हटकर विधवा विवाह कार्य के एक उत्साही समर्थक थे। प्रोफेसर कर्वे ने उनके सहयोग से 31 दिसम्बर 1893 को इस कार्य के प्रति सहानुभूतिपूर्ण लोगों की वर्धा में एक सभा आयोजित की। उस में यह निश्चय हुआ कि वही काम करने चाहिए जिनमें यथासम्भव कोई वाद विवाद उलझन और झंझट न हो। उन्होंने एक नया संगठन स्थापित किया जिसका नाम विधवा विवाह समिति रखा। इसके उद्देश्य क्या होंगे, जब इस विषय पर विचार हो रहा था तो उस समय इस नवस्थापित विधवा विवाह समिति के उद्देश्यों से अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को और विभिन्न पद्धतियों से किए जाने वाले विवाहों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को अलग ही रखा गया। वे एक ऐसी कार्य प्रणाली चाहते थे जिसमें कम से कम विरोध का सामना करना पड़े। प्रोफेसर कर्वे उसके मंत्री बने और समिति का प्रधान कार्यालय पूना में रखने का निश्चय हुआ। सौभाग्य से डा० आर० जी० भण्डारकर समिति के अध्यक्ष बने। समिति के सदस्य वे ही बन सकते थे, जिन्होंने या तो विधवा से विवाह किया हो अथवा जिन्हें विधवा विवाह करने वालों के साथ भोजन करने में आपत्ति न हो। इनके अतिरिक्त समर्थकों की एक अन्य श्रेणी थी। प्रत्येक सदस्य और समर्थक को अपनी एक दिन की आय चंदे के रूप में देनी थी।

अस्तित्व में आने के बाद समिति का पहला काम पुनर्विवाहित विधवाओं के बच्चों के लिए एक आवास की व्यवस्था करना था। उसके लिए एक होस्टल प्रोफेसर कर्वे के घर पर ही स्थापित हुआ। होस्टल बहुत दिनों तक नहीं चला, लेकिन उसके बंद होने के बाद भी बहुत दिनों तक समिति उन जरूरतमन्द बच्चों को, जो पुनर्विवाहित विधवाओं से जन्मे थे, आर्थिक सहायता देती रही।

छुट्टियों में प्रोफेसर कर्वे समिति के उद्देश्यों का प्रचार करने के लिए यात्राएं किया करते थे। इस पर्यटन में उन्हें पता चला कि बहुत लोगों को इस काम से सहानुभूति है।

सन 1895 में समिति का नाम बदलकर 'विधवा विवाह-निषेध निवारक समिति' कर दिया गया। इस नामांतर का सुझाव स्वयं प्रोफेसर कर्वे ने दिया था। वह पहले नाम की अपेक्षा इसे ज्यादा उचित समझते थे। उनका कहना था कि यदि समिति का उद्देश्य साधारण और सरल प्रतीत होगा (जैसा कि उसके नए नाम से सूचित होता था) केवल वर्तमान निषेधों और प्रतिबन्धों को दूर करना तो समिति को समाज की सहानुभूति अधिक सरलता से प्राप्त हो सकेगी।

कुछ वर्षों तक प्रोफेसर कर्वे ने समिति के कार्य में बड़ा कठोर श्रम किया। ज्यों-ज्यों वह काम करते और विभिन्न स्थानों के लोगों से मिलते उनको इस बात का अधिकाधिक भान होता गया कि अधिकांश लोग विधवा विवाह के प्रति आपत्ति इस कारण उठाते हैं कि वे जिस दृष्टि से इस सुधार को देखते हैं वह सनातन परम्पराओं से निर्मित है। ज्यादातर विरोधी केवल धार्मिक आधार पर इसका विरोध करते थे। वे पूरी तरह से इसलिए इसका समर्थन नहीं कर पाते थे कि उनके कुछ आभ्यन्तर संस्कारों की जड़ें गहरी थीं जिनसे इन सुधारों के प्रति जुगुप्सा, विरोध और घृणा उत्पन्न होते थे। वे बतला तो नहीं पाते थे कि वह क्या है, पर वह आग्रह था अवश्य, तमाम तर्कों के बावजूद वे उससे छुटकारा भी नहीं पा सकते थे। इन परिस्थितियों पर विचार करते हुए उनका ध्यान विधवाओं की एक अन्य असमर्थता की ओर गया। वह विधवाओं की शिक्षा के लिए और अधिक प्रभावी कार्यक्रम सोचने लगे। कई विधवाएं जो पुनर्विवाह के प्रस्ताव पर विचार तक नहीं करना चाहती, वे भी शिक्षा का लाभ ग्रहण करने के सुअवसर का हार्दिक स्वागत करेंगी।

जो सुधार कर्वे को बहुत प्यारा था उसके प्रति जनता का दृष्टिकोण सहायक बनाने की दृष्टि से वे लोगों को समझाते रहते थे। उसमें बराबर लगे रहते हुए कर्वे की एक आंख इस बात पर लगी रहती कि मैं किसी विधवा का विवाह भी करा सकूं। जब कभी ऐसा विवाह होता, वह उसे एक महान कार्य की सिद्धि समझते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम सात वर्षों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वह पांच विधवा विवाहों के निमित्त बने। इनमें से अन्तिम

वधू उनकी अपनी भतीजी मनु थी। उन्होंने ही दादा को अपनी बेटी का विवाह एक गरीब, लेकिन प्रतिभाशाली लड़के से, करने के लिए राजी किया था। मनु के पति भीकू विद्यालंकर ने प्रोफेसर कर्वे की देखरेख में बम्बई और पूना में अपनी शिक्षा पूरी की थी। जब उसने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की, तब तक मनू भी महिलाओं के ट्रेनिंग कालेज में अपनी तीन वर्ष की शिक्षा पूरी करके उसका प्रमाणपत्र ले चुकी थी। प्रोफेसर कर्वे ने कोशिश करके भीकू तथा मनु के लिए विदर्भ में काम जुटा दिया। उनके वहां काम पर जाने के पहले ही भीकू की मृत्यु हो गई। मनू अकेली ही देउलगाव गई और उसने कुछ वर्षों तक वहां काम किया। फर्गुसन कालेज में उनके सहयोगी प्रोफेसर जी० सी० भाटे की पहली पत्नी की मृत्यु हो गई थी, उनको सन् 1899 में प्रोफेसर कर्वे पुनर्विवाह के लिए राजी करने में सफल हुए। मनु के साथ उनका विवाह पूना में हुआ। इसी खुशी के बीच प्रोफेसर कर्वे को कैम्ब्रिज से रघुनाथ पराजपे की शानदार सफलता की सूचना मिली, जिससे उनकी खुशी और बढ़ गई। वह गणित ट्रिपोस की अंतिम परीक्षा में सीनियर रैंग्लर हो गए थे।

प्रोफेसर कर्वे जब विधवा विवाह निषेध निवारक समिति के मंत्री का काम कर रहे थे, तभी उन्हें बम्बई की हमन व्याख्यानमाला (विंटर लैक्चर सीरीज) में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया। विषय था—'विधवा विवाह आंदोलन के पचास वर्ष।' आर्य समाज मन्दिर में सभा हुई। सभा भवन खचाखच भरा हुआ था। जस्टिस रानडे अध्यक्ष थे। प्रोफेसर कर्वे लगभग एक घंटा बोले। अपने भाषण में उन्होंने गृहस्थ आश्रम के महत्व पर बल दिया। उन्होंने इसे स्त्री और पुरुष, दोनों ही के लिए सर्वोत्तम और सर्वाधिक काम्य बताया। उन्होंने कहा कि ब्रह्मचर्य का पालन बहुत थोड़े लोग कर सकते हैं (शायद हजार में एक), वह भी ऐसे जो केवल अविभक्त निष्ठा से मानवता की सेवा का व्रत स्वीकार करते हैं। अतः किसी भी कन्या या स्त्री पर जिसकी स्वाभाविक रुचि एक बार फिर गृहणी बनने की हो, उसे स्थायी वैधव्य न थोपना चाहिए। उनका भाषण एक वाक्पटु सुवक्ता का सा नहीं था, लेकिन गंभीरता और गहराई के साथ उन्होंने अपनी बात कही और

श्रोताओं ने तल्लीन होकर उनका एक-एक शब्द सुना। उनका भाषण समाप्त होते ही, गजानन भास्कर वैद्य नाम का एक तरुण सभा में बोला और अपने भाषण में उसने उन लोगों की अच्छी खबर ली जो उसके ख्याल में, इस आंदोलन की असतोष पूर्ण प्राप्ति के लिए जिम्मेदार थे। उसका आक्षेप खास तौर से सभा के अध्यक्ष जस्टिस रानडे पर था। उन्होंने पहली पत्नी के मर जाने पर किसी विधवा से विवाह करने की बजाय एक अल्पवयस्क कुमारी कन्या का पाणिग्रहण किया था। वक्ता आवेश में था और उसके आक्षेप अत्यंत कटु थे। यद्यपि न्यायमूर्ति रानडे के दूसरे विवाह के बारे में वह जो कुछ कह रहा था, उससे इनकार नहीं किया जा सकता था, लेकिन श्रोताओं को लग रहा था कि वह ज्यादती कर रहा है। जनता में खलबली सी फैलने लगी और जब उसने हाथ मुंह नचाकर सकेत करते हुए एक ही बात को बार बार कहना शुरू किया तो लोग उत्तेजित भी हो उठे। जब वह बैठ गया तो जस्टिस रानडे बोलने के लिए उठे। वह पूरी तरह अविचलित और शात थे। विनम्रता ने उनकी शालीनता और शब्दों के आकर्षण को और बढ़ा दिया जब अध्यक्ष के पद से उन्होंने कहा कि मैं अपने पूर्व वक्ता के एक-एक शब्द से सहमत हूं। मैं उनसे इसमें भी सहमत हूं कि इस सभा का अध्यक्ष श्री सदाशिवराव केलकर को होना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने अपनी दूसरी पत्नी के रूप में एक विधवा का पाणिग्रहण किया है। उन्होंने अपना भाषण इन शब्दों में आरंभ किया—'हम पशु और पदाक्रांत जन हैं। अतः मैं अपने तरुण मित्र से कहता हूं आप पथ प्रदर्शन कीजिए और हम अपनी दुर्बलता के बावजूद अपनी इस क्षीण अवस्था में भी समस्त बची हुई शक्ति को बटोर कर आपका अनुसरण करेंगे।" प्रोफेसर कर्वे ने जब ये शब्द सुने, तो उनके प्रति श्लाघा से उनका हृदय स्निग्ध हो उठा। इस सहृदय स्वीकारोक्ति के बाद जस्टिस रानडे आध घंटा तक बोलते रहे और अपने भाषण से उन्होंने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। जब वह बैठे तो श्रोता बिलकुल भूल चुके थे कि भाषण देने के लिए उनके उठने से पहले क्या कुछ हुआ था।

ज्यों ज्यों समय बीतता चला प्रोफेसर कर्वे को अपने दूसरे विवाह के कारण एवं विधवा विवाह के समर्थक होने के कारण अधिकाधिक कष्ट सहना

पडा। उन्हें सबसे गहरी चुभन थी अपने परिवार से उनको अलग किए जाने और उस अलगाव के स्थायी बनाए जाने की। पूना मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए दादा अपने लडके को घोडू के घर नही भेज सकते थे। अत उसे प्रोफेसर पराजपे के यहा भेजना पडा था। मा और दादा जब तीर्थ यात्रा के लिए पढरपुर जाते हुए पूना म रुके तो वे उनके यहा नहीं ठहरे। अपनी आखिरी बीमारी मे उनकी मा ने सबसे कह रखा था कि घोंडू को उनकी बीमारी की खबर न दी जाए। जब उन्हें मालूम हुआ, तब बहुत देर हो चुकी थी। सब कुछ खत्म हो चुका था, तब वह अतिम दर्शन के लिए मुरुद पहुचे। बहरहाल, प्रोफेसर कर्वे को इस समय तक कठोरतम परिस्थितियो म भी मानसिक सतुलन बनाए रखने का अभ्यास हो गया था। वह प्राय एक बहुश्रुत सूक्ति को दुहराया करते जिसमे कहा गया है कि यथार्थत महान् व्यक्ति वही है जिसका हृदय कुसुम-सा कोमल है और साथ ही वज्र सा कठोर भी है—'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि लोकोत्तराणा चेतासि कोनुविज्ञातुमर्हति।' प्रोफेसर कर्वे की चित्त-वृत्ति और उनका आचरण इस सूक्ति के जितना उपयुक्त था, उतना कम ही महापुरुषो का रहा होगा।

अध्याय 9

अनाथ बालिकाश्रम

तीन बरसों के अथक प्रयत्न के बाद प्रोफेसर कर्वे ने अच्छी तरह जान लिया कि विधवाओं के विवाह की समस्या का समाधान केवल जनमत को इसके पक्ष में तैयार करने से नहीं होगा। इसमें प्रधान अनुल्लंघ्य बाधा धर्ममूलक विरोध था। जो ऐसे लोगों द्वारा भी प्रस्तुत होता था, जिनके मन आधुनिक शिक्षा के कारण सजग हो चुके थे। स्वयं विधवाओं की दशा भी काफी थी जो कोई निश्चय ही न कर पाती थीं। उनमें से बहुतेरी तो पुनर्विवाह के प्रस्ताव पर विचार तक नहीं करना चाहती थीं। इन्हीं विधवाओं में वे भी थीं, जिनके बच्चे थे। यह स्वाभाविक था कि अपने भविष्य की चिंता से पहले वे अपने बच्चों का भविष्य सोचतीं थीं। उसका एक उदाहरण स्वयं प्रोफेसर कर्वे के सम्बन्धियों में उनकी साली, (आनन्दीबाई की छोटी बहन) थी। माता पिता ने उसका नाम कृष्णी रखा था, लेकिन कालान्तर में पार्वती बाई हो गया था—पार्वती बाई अठावले स्वर्गीय महादेव अठावले की पत्नी थी। महादेव से विवाह होते समय कृष्णी ग्यारह साल की थी। उन दिनों कन्या के विवाह के लिए इतनी आयु भी अधिक समझी जाती थी। पति गरीब और लंगड़ा था, लेकिन उसके पिता ने उसकी निर्धनता तथा शारीरिक विकार की उपेक्षा कर दी, क्योंकि अपनी असम्पन्न अवस्था में उनके लिए उससे अधिक रूपवान और धनवान दामाद ढूंढ पाना असम्भव था। इस विवाह के प्रस्ताव के बारे में लड़की का अपना क्या मत था, कोई इसे न तो जानता था न किसी ने उससे पूछा ही। जब एक मामलतदार की स्त्री ने इस सम्बन्ध को करने का प्रस्ताव उसके माता पिता के सामने रखा था तो वह

समझती थी कि मैं उनका उपकार कर रही और उन लोगो ने झटपट इसे स्वीकार कर लिया था।

पार्वती बाई ने विवाह के बाद नौ बरस दाम्पत्य जीवन मे सुखपूर्वक बिताए। उसके अपने तीन बच्चो में से सिर्फ पिछला ही बचा रहा। वह लड़का था। उसका "नारायण" नाम था। पार्वती बाई अभी बीसवें ही साल म थी कि वैधव्य मे उसके पति का देहान्त हो गया। तब वह अपने दो साल के बच्चे 'नाना' को साथ लेकर अपने पिता के घर चली आई और वही रहने लगी।

छोटा बच्चा यह समझ ही न पाता था कि मा की सूरत शक्ल इतनी बदल क्यो गई है।

नाना पूछता, "मा! तुम ऐसी लाल साडी ही क्यो पहनती हो? और तुम्हारे बाल कहा गए?"

मा अपनी आखो के आसू सम्भालने का बडा प्रयत्न करती और कहती, 'भाऊ! वह तुम्हारे पिता के साथ ही चले गए।"

नाना धीरे धीरे बढने लगा और पार्वती बाई की समस्त कामनाओ तथा महत्वाकांक्षाओ का केन्द्र बिन्दु बनता गया।

पार्वती बाई की बडी बहन बाया (गोदू बाई) भी विधवा थी, वह अपने भाई के साथ बम्बई म रहती थी। आगे चल कर वह पंडिता रमाबाई के शारदा-सदन म भरती हुई और सन् 1893 मे प्रोफेसर कर्वे से उसका विवाह हुआ। बाया के पुनर्विवाह न पार्वती बाई के जीवन धारा के प्रवाह को भी एक नई दिशा मे मोड दिया।

बाया के पुनर्विवाह के लगभग बीस महीनो बाद पार्वती बाई अपने माता-पिता के साथ पूना आई। वह लोग तीर्थ यात्रा करने निकले थे और बनारस को जा रहे थे।

बाया ने अपने माता पिता से पूछा, "तुम लोगो के साथ कृष्णी बनारस क्या जाए? उसे मेरे साथ यही रहने दो। उसका वहा जाना ठीक नहीं है, क्योकि उसे अपने छोटे बच्चे की देख भाल करनी है। बनारस की यात्रा खतरो

से मरी हुई है। अगर बाबा से उसे कुछ हो-हुवा गया तो यह अबोध बालक मातृहीन हो जाएगा।"

बाबा तो शायद यह बात मान गए होते, लेकिन मां ने विरोध किया। उन्होंने कहा, "बाबा, मैं नहीं चाहती कि वह तुम्हारे उदाहरण से प्रभावित हो। तुम्हारी तरह मैं उसे गलत राह पर नहीं जाने देना चाहती, परिवार को एक नया कलंक लगा कर फिर से लज्जित होने से बचाना है।"

और कृष्णी की ओर मुड़ कर वे कहती चली।—'देखो बेटी, तुम हम लोगों के साथ नहीं जाना चाहती तो देवरुख लौट जाओ। लेकिन तुम अगर अपनी बहन के साथ यहां रहीं तो मैं भी आत्महत्या करूंगी।

पार्वती बाई के माता पिता उसे पूना ही छोड कर बनारस चले गए। बाबा ने उसे अपने यहा रुक जाने के लिए बहुत आग्रह किया और समझाया लेकिन उसने स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह मा से वचनबद्ध थी। वह नाना के साथ देवरुख लौट गई।

थोडे ही दिनों बाद सयोग ऐसा बना कि नाना की पढ़ाई की व्यवस्था पूना मे की गई और उसे वहा भेजना आवश्यक हो गया। छ महीनों बाद जब पार्वती अपने लडके से मिलने के लिए पूना गइ तो उसने देखा कि प्रोफेसर कर्वे जोर शोर से एक विधवाश्रम की योजना बना रहे हैं।

उन्होंने पार्वती बाई से पूछा, "विधवाश्रम खुलेगा तो तुम मुझे क्या मदद दोगी ?"

पार्वतीबाई ने कहा, "पता नही। सम्भवत भोजन बना दूगी।"

प्रोफेसर कर्वे को ठीक पता था कि अपनी साली को वे अभी दूसरे विवाह के विषय मे विचार करने के लिए भी राजी नही कर पाये थे। अत एकमात्र विकल्प यही था कि ऐसी विधवाओं का सोसन और पढने की सुविधाएं दी जाएं।

पडिता रमाबाई के लिए प्रोफेसर कर्वे के मन मे बडी श्रद्धा थी। वह उनके काम और शारदा सदन की प्रगति का बडी दिलचस्पीपूर्वक देख रहे थे। अपनी पत्नी बाया की कायापलट से वह अनुमान कर सकते थे कि पडिता

रमाबाई कितनी सफलता प्राप्त कर सकती हैं, एवं भविष्य में शारदा सदन की एक संस्था के रूप में क्या सम्भावनाएं हैं। स्थापना के चार बरसों के अन्दर ही शारदा सदन ने साठ से अधिक छात्राओं को आकर्षित किया। उनमें से अधिकतर विधवाएं थीं। यद्यपि शिक्षा की सुविधा प्राप्त करने के लिए काफी स्त्रियां आगे आ रही थीं उनमें ऐसी विधवाओं की संख्या बहुत ही कम थी जो सम्भवतः पुनर्विवाह को स्वीकार कर सकती थीं। ऐसी अवस्था में प्रोफेसर कर्वे ने सोचा कि विधवाओं के लिए शैक्षणिक सुविधाएं जुटाने का काम ही हाथ में लिया जाए। आखिर, उनका उद्देश्य तो यही था कि उन्हें किसी प्रकार इस योग्य बनाया जाए कि वे एक नया और सुखपूर्ण जीवन अपना सकें। उन्होंने सोचा कि यदि शारदा सदन जैसी एक नई संस्था खोल कर उसे चलाया जाए तो शायद वह प्रयास अधिक प्रभावोत्पादक होगा और अधिक शीघ्रता से इच्छित फल दे सकेगा।

जुलाई 1893 के बाद शारदा सदन के समर्थक और उससे सहानुभूति रखने वाले अधिकतर लोग अप्रसन्न और क्रुद्ध हो गए। इस तरह का समाचार फैल रहा था कि उसकी लगभग बारह छात्राएं ईसाई हो गई हैं। शीघ्र ही यह बात प्रमाणित हो गई और दावानल की तरह यह सारे महाराष्ट्र में फैल गई। पंडिता रमाबाई के आलोचकों और दुश्मनों को जिस बात का सबसे ज्यादा डर था, वह सच हो गई। अखबारों के स्तम्भ जो कुछ हुआ, उसकी निन्दा से भरे रहने लगे, इसके अलावा शारदा सदन की संस्थापिका की नीयत पर भी सन्देह किया जाने लगा। इस सन्देह की पुष्टि तक से की गई और लोगों ने इस पर विश्वास भी कर लिया कि शारदा सदन की स्थापना ही केवल इसलिए हुई कि धर्म परिवर्तन करके ईसाइयों की संख्या बढ़ाई जाए। उसकी परामर्शदात्री समिति के सदस्यों ने, जिसके अध्यक्ष डा० भंडारकर थे, उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उन सब लोगों ने एक संयुक्त वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने जनता को चेतावनी दी कि शारदा सदन में अपनी पुत्री या किसी भी रिश्ते की स्त्री को भेजना खतरनाक है।

इन घटनाओं के तुरन्त बाद कुछ लोगों ने हिन्दू शारदा सदन नाम से एक नई संस्था खोलने का हलका-सा प्रयास किया। यह प्रयास आरम्भिक अवस्था

'धोंडो केशव कर्वे ने धन का संग्रह करने के लिए लगभग दो महीने परिभ्रमण किया। उन्होंने बंबई, पूना, बड़ौदा, अहमदाबाद, अकोला और अमरावती की यात्रा की। इन जगहों तथा पूना में संग्रहीत धन से नई संस्था इतनी सक्षम बन सकी कि उसने सात विधवाओं के निवास और भोजन के साथ-साथ उनकी शिक्षा का संपूर्ण प्रबन्ध भी कर पाया। जिस दिन यह रिपोर्ट पेश की जा रही है, उस दिन संस्था के पास 3,200 रु० 14 आने और 11 पाई शेष है।"

सन् 1897 के अन्त में मण्डली के पास 5,633.71 रुपये जमा थे।

इस सफलता के परिणामस्वरूप सफलताएं ही हाथ आयीं। मण्डली के सदस्य जब वार्षिक रिपोर्ट पर विचार करने और उसे स्वीकृति देने के लिए इकट्ठे हुए तो यह निश्चय किया गया कि भावी कार्यों का सम्पादन और उनके विस्तार के लिए भवन निर्माण और तत्सम्बन्धी व्यवस्था का कार्य शुरू करने का अनुकूल समय आ गया है। साथ ही यह भी तय हुआ कि जो धनराशि बच रही है, उसे इस काम में न लगा कर के अलग से धन-संग्रह किया जाए। यह सुझाव प्रोफेसर कर्वे का था जिसे सभी सदस्यों ने स्वीकार कर लिया।

पर नई योजना के लिए धन-संग्रह करने की जिम्मेदारी वह कैसे लेते? पर्याप्त राशि इकट्ठी कर सकने का भरोसा उन्हें भी नहीं था, लेकिन इसकी उन्हें ज्यादा परवाह नहीं थी। स्वावलम्बी की सहायता ईश्वर भी करता है। जब मण्डली की स्थापना हुई थी, उन्होंने अपनी बचत में से एक हजार रुपये दिए थे। लेकिन अब उनके पास देने को कुछ न था। हां जीवन बीमा की उनकी पांच हजार की पालिसी थी। वह उस पर कुछ कर्ज ले सकते थे। पर सबसे बड़ी कठिनाई धन की नहीं जगह की थी। मकान के लिए कोई उपयुक्त जगह नहीं मिल रही थी। अतः तुरन्त ऐसी जरूरत नहीं थी कि कर्ज लेने के लिए वह अपनी बीमा पालिसी को रेहन रखें।

वैसे मण्डली के काम के लिए बीमा पालिसी का इस्तेमाल एक अच्छा ख्याल था। प्रोफेसर कर्वे के पास जो कुछ था, उसे किसी अच्छे काम में लगाने का सुयोग वह कभी न छोड़ते। इस सद्योजात विचार का त्याग करना वह नहीं चाहते थे यद्यपि उस धन की अभी तुरन्त जरूरत नहीं थी। उन्होंने

जिस तरह की सस्था स्थापित की थी, उसे सदा धन की जरूरत पड़ती रहेगी। अत अपने जीवन बीमा-पत्र का उपयोग वह आगे किसी सुग्रवसर पर कर सकते थे।

यह विचार ठीक था और यह प्रेरणा भी अच्छी थी, लेकिन उन्हें डर था कि अगर तत्काल उस पर अमल न करूगा तो शायद प्रेरणा का तीखापन जाता रहे। अत वह इसको घोषित कर और वचनबद्ध हो कर अपने को बाध देना चाहते थे। धन इकट्ठा करने के लिए वह नागपुर गए हुए थे। वहा थोड़े-से श्रोताओ के सम्मुख उन्होने अपनी बीमा पालिसी को बालिकाश्रम के नाम अन्यपण करने के इरादे की घोषणा की।

उन्होंने कहा, "मित्रो, यह मेरा निश्चय है और इसके अनुसार मैं काम करना चाहता हू। अगर आपको यह लगे कि मैं इसको कार्यान्वित नही कर रहा हू तो मुझ पर एक कृपा करें। तब मैं चाहूगा कि अपने वादे से मुकरने के लिए आप मुझे सजा दें, मुझे शर्मिंदा करें।"

18 अप्रैल 1899 को प्रोफेसर कर्वे ने अपनी पालिसी आश्रम के नाम कर के उसे अमानत मे सौंप दिया। आश्रम की उस साल के विवरण पत्र में उस को 'एक व्यक्ति की भेंट' कहा है।

उसी साल, पेरू गेट के पास, सदाशिव पेठ में एक किराए के मकान मे अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना हुई। मकान श्री गोरे का था। प्रोफेसर कर्वे भी उसी मकान मे रहने लगे।

प्रोफेसर कर्वे की इच्छा थी कि आश्रम शहर के बीच में न हो। राव बहादुर गोखले न हिंगने मे उन्हें थोडी सी जमीन देनी चाही। उसे तुरत स्वीकार नही किया गया, क्योकि अनेक कारणो से मण्डली के सदस्य उसे अनुपयुक्त समझते थे। लेकिन 1899 मे प्लेग की महामारी फैली तो मण्डली के लिए यह आवश्यक हो गया कि आश्रम को थोडे दिनो के लिए हटा कर श्री गोखले के हिंगनेवाले कृषक भवन मे ले जाया जाए। उसे चार महीनो तक श्री गोखले के मकान मे चलाने के बाद प्रोफेसर कर्वे यह सोचने लगे कि आश्रम को सदाशिव पेठ की भीड़भाड मे वापस ले जाने से कही अच्छा है कि

उसे स्थायी रूप से वही रखा जाए। काम शुरू कर दिया गया और सन् 1900 मे *एक छोटा सा मकान बन कर तैयार हो गया।* उस पर सिर्फ पाच सौ रुपये खर्च हुए थे। उस समय आश्रम मे आठ विधवाए और दो अविवाहित लडकिया रहती थी।

प्रोफेसर कर्वे की पहली पत्नी राधाबाई की बडी बहन नर्मदाबाई जो राधाबाई की बीमारी के वक्त उन्ही लोगो के साथ बम्बई मे थी और फिर अपने बहनोई के साथ पूना आ गई थी, उनके दूसरे विवाह के बाद वापस चली गई थी। अब वह फिर लौट आई और उन्होने खुशी खुशी रसोई घर की देखभाल और लडकियो की सुविधाओ की देखभाल का काम सभाल लिया। एक अवकाशप्राप्त अध्यापक आश्रम मे पढाने का काम करने लगे। प्रोफेसर कर्वे गोरे के बाडे म किराये पर ही रहते रहे। कालेज से अपना *काम खत्म करके प्रोफेसर कर्वे सीधे घर आ कर जल्दी से भोजन करते और* हिंगने चले जाते। वह भी प्रात और सायकाल म लडकियो को पढाया करते थे। नित्य लगभग आठ बजे प्रात वह कालेज म काम करने के लिए पूना लौट आते थे।

इस प्रकार प्रोफेसर कर्वे का सारा समय कालेज और हिंगने में आश्रम के कामो मे बीतता, बाया पूना मे घर गृहस्थी और बाल बच्चो का काम प्राय अकेले ही सभाला करती। कभी कभी वह इस एकाकीपन से उदास भी हो जाया करती। ऐसे ही उदासी के क्षणो मे कभी उनको इसका विस्मय होता *था कि यदि उन्होने अपने जीवन के सम्पूर्ण काल को आश्रम के कामो मे ही* समाधिस्थ होकर बिताना था तो मेरे पति ने दूसरे विवाह की बात सोची ही क्यो होगी? उस समय उनका दूसरा पुत्र दिनकर छ महीने का था। बाया का स्वास्थ्य भी ठीक नही रहता था। उन्हे प्राय ज्वर आ जाता, जिससे वह बहुत दुर्बल हो गई थी। यह भी सम्भव नही था कि घर के काम धधा म सहायता के लिए किसी ब्राह्मण परिचारिका को रखें क्योकि जिस विधवा ने विवाह कर लिया हो, उसके घर मे कोई भी स्त्री काम नही करेगी। अपनी भूतपूर्व अध्यापिका पडिता रमाबाई से मिली हुई बहुमूल्य शिक्षा को बाया भूली न थी। उन्होने निश्चय किया कि अब उनसे मित्रता की जाए जिनका समाज मे कोई मित्र न हो और जो अपनी जाति से बहिष्कृत माने जाते थे।

वैसे लोगो को उन्होने अपने घर में आश्रय दिया और उनसे बाया को घरेलू कामो मे सहायता भी मिलने लगी।

यह बात कुछ असगत सी लगती है कि यद्यपि प्रोफेसर कर्वे का अपने परिवार की देख रेख के अतिरिक्त बाहर के कामों में अपने को लगाये रखना बाया को पसन्द नहीं था, तथापि अब वह खुद भी उसी प्रकार का व्यवहार और आचरण करने जा रही थी। वैसे तो उनका स्वास्थ्य बराबर अपने ही घर के इने गिने कामों में लगाये रखने के योग्य भी नहीं था, फिर भी उन्होंने घर म गरीबों के घरो और असहायो को जगह दी थी। उन लोगो को न केवल आश्रय और सरक्षण दिया, बल्कि वह सब भी दिया जिसकी अपेक्षा सदगृहस्थ अपने घर म करते है। एक बार उसे पता चला कि पढरपुर से लौटी हुई एक स्त्री न अपन को कुछ कठिनाई मे फसा लिया था तो बाया न केवल उसके लिए ही चिन्तित थी बल्कि अपने पति के लिए भी, जो आश्रम को चला रहे थे चिन्तित हो उठी। आश्रम विधवाओ के लिए था। बल्कि लोग प्रोफेसर कर्वे के घर को भी आश्रम का ही एक अग समझते थे। अगर उन्हे पता चल जाता कि इस घर में रहने वाली एक स्त्री पथ भ्रष्ट हो गई है तो यह एक ऐसा सकट होता जिसका सामना करना आश्रम के व्यवस्थापको के लिए कठिन हो जाता। उन्होंने परिस्थिति को बडी सावधानी और चतुराई के साथ सभाला और इस बात का ध्यान रखा कि आश्रम का नाम कलकित न हो। प्रोफसर कर्वे ने जिस काय का बीडा उठाया था, उनकी पत्नी भी बढती हुई जिम्मेदारी और चिन्ताओ को ढोते हुए उस सत्काय को आगे ही बढा रही थी। यह सब वे धीरज और प्रसन्नता के साथ झेल लेती थी। उनको पति के प्रत्यक्ष उदाहरण और पडिता रमाबाई की दी हुई शिक्षा से प्रेरणा और बल मिलता था।

प्रोफेसर कर्वे एकाग्रता से बालिकाश्रम के कामों मे अपना ध्यान लगाये रहते थे। कठिनाइयां भी झेलनी पडती थी, पर उनके बारे मे वह कभी भी नहीं सोचते थे। कठिनाइया बहुत और तरह-तरह की थी। हर शाम वह पूना से पैदल हिंगने जाते थे। हिंगने प्राय छ किलोमीटर दूर था। सड़क बड़ी खराब थी और बरसात में कीचड से भर जाती थी। लेकिन वह सडक

की बुरी हालत या अपनी थकावट को लेकर कभी परेशान न हुए। वह जानते थे कि अगर मैं एक दिन भी वहां जाने का नागा करूंगा तो आश्रम के कार्यकर्ता एवं निवासी निराश होंगे। पूना से हिंगने को सामान भी वह खुद ढो कर ले जाते थे। प्रसन्न मुख से भोली भाली बालिकाएं मुस्कान के साथ वहां पहुंचने पर जब उनका स्वागत करती थीं, तो उससे उनको इसकी झलक मिलती थी कि वे कितनी उतावली से उनकी प्रतीक्षा करती थीं। पल-भर में वह राह सारी थकान और घर की चिंताओं को भूल जाते थे।

यद्यपि बीच बीच में बाया ऐसा सोचा करतीं, पर प्रोफ़ेसर कर्वे घर की समस्याओं के प्रति नितान्त उदासीन नहीं थे। जब कभी कोई घर में बीमार पड़ता, तो वे इस दुविधा में रहते कि घर की देखभाल करें या अपने काम की जिम्मेदारी सम्हालें। इससे वे एकदम झकझोर जाते। जब भारी दिल लेकर कभी कभी आंसू बहाते हुए वह कर्त्तव्य की ओर खिंच जाते तो उस समय वह भली भांति जानते कि उनके घर पर रहने से उनकी पत्नी को बड़ी सहायता मिलती और उनकी ताकत और हिम्मत बढ़ती, ऐसे में हिंगने जाने के लिए घर से बाहर निकलने पर उनकी आत्मा उन्हें कचोटती रहती। लेकिन वह अपने निजी परिवार, जिसमें केवल उनकी पत्नी और बच्चे थे, तथा हिंगने के बड़े परिवार के बीच कोई भेदभाव न कर पाते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है :

"झोंपड़ी अभी अस्थाई तौर पर बनी हुई थी उसके चारों ओर फैली हुई जमीन कंटीली झाड़ियों, पेड़ों और नुकीले पत्थरों से भरी हुई थी, और लड़कियां को उसी रास्ते लगभग एक फर्लांग दूर जाकर नहर से पानी लाना पड़ता था। झोंपड़ी में बरसाती पानी से पूरा बचाव न था और कभी-कभी तो टपकने वाले पानी से अपना बचाव करने के लिए हम लोगों को चटाइयां ओढ़नी पड़ जाती थीं। बरसात में तमाम रास्ता कीचड़ से भर जाता था। लेकिन कीचड़ हो या न हो छुट्टियों को छोड़ मैं दो वर्षों तक प्राय बराबर वहां जाता रहा। इसमें रुकावट शायद ही कभी पड़ती थी। मेरा यह परिश्रम बहुत प्रेमभरा था, अतः इससे मुझे कभी थकावट नहीं होती थी। कभी-कभी मुझे कठिनाई तब होती थी, जब घर पर मेरी पत्नी या बच्चे बीमार होते

ग्रोर मुझे उनको उनके भाग्य के भरोसे छोड़ कर बालिकाश्रम जाना पड़ता था। मेरा अपनाया हुआ यह आश्रम मेरे लिए उस दत्तक सन्तान की तरह था जिसे मैंने गोद ले लिया हो, और वह मुझे अपने सगे सम्बन्धियों और अपने से भी अधिक प्रिय था। जब कभी मेरे कर्त्तव्यों के बीच कोई ऐसा संघर्ष उपस्थित होता तो मैं सदा संस्था के पक्ष में ही निर्णय देता—वह संस्था चाहे जो भी हो। मेरी उपेक्षा के कारण मेरी पत्नी अथवा बच्चों को दुःख उठाना पड़ता था, यह देख कर मैं प्रायः तिलमिला उठता था। लेकिन मैं लाचार था। कई अवसरों पर मेरी आंखों में आंसू होते और मैं बालिकाश्रम की ओर बढ़ रहा होता था। कभी-कभी एक दूसरी तरह की कठिनाई भी आ पड़ती। बालिकाश्रम की कोई लड़की बीमार पड़ जाती तो मेरी चिन्ता एकदम बढ़ जाती। यद्यपि मैं हमेशा दूसरों को दिलासा देने और खुश रखने की कोशिश करता पर उन प्रारम्भिक दिनों में कोई भी दुर्घटना संस्था को बहुत बड़ा आघात पहुंचा सकती थी। आश्रम के निवासियों के लिए जो कुछ किया जा रहा था, उन दिनों वहां शुरू-शुरू में रहने वाली सभी स्त्रियां उसका महत्व समझती थीं और वे सब तरह की दिक्कतों और असुविधाओं का हिम्मत के साथ सामना कर रही थीं। कठिनाई के वे दिन बीत गए और अन्ततोगत्वा यह निश्चय किया गया कि अपनी जमीन पर स्थाई भवन बनाया जाए।"

यह बालिकाश्रम के संस्थापक का परम सौभाग्य था कि जब उनकी साली पार्वतीबाई 1902 में अपने पुत्र नाना से मिलने पूना आईं तो वह लौटकर अपने पिता-माता के पास देवरुख नहीं गईं। प्रोफेसर कर्वे के पूछने पर उन्होंने कहा था कि आप जिस संस्था की स्थापना की बात सोच रहे हैं उसके लिए अधिक-से अधिक मैं यह कर सकती हूं कि उसके रसोईघर की देखभाल करूं। लेकिन उनके लिए कर्वे ने कुछ और ही योजना सोची हुई थी। उन्हें मालूम था कि वह इससे अधिक बड़ा काम कर सकती हैं। आश्रम की स्थापना से कुछ महीने पहले ही वह पूना आ गई थीं। अतः उन्होंने सुझाव दिया कि तुम अध्यापिका बनने के लिए प्रशिक्षित हो जाओ। उन्होंने कोशिश कर के उन्हें सरकार से एक मासिक छात्रवृत्ति भी दिला दी। लोक शिक्षा निर्देशक ने इस शर्त से भी उन्हें छुटकारा दे दिया कि अध्यापन प्रशिक्षण पाने के बाद उन्हें

कम से कम तीन साल सरकारी स्कूल में काम करना पड़ेगा। इस तरह बालिकाश्रम के लिए उनकी सेवाएं सुलभ हो गयी।

जब वह ट्रेनिंग कालेज में थी, वह शनिवार को हिंगने चली जातीं और रविवार का दिन वहीं गुजारती। शनिवार की शाम को वह प्रोफेसर कर्वे के साथ साथ पैदल चलती और रास्ते भर उनकी बातें सुना करतीं। वह देश में स्त्रियों की, खास तौर से विधवाओं की दयनीय स्थिति का वर्णन किया करते पार्वतीबाई उनके हर शब्द पर विचार करती और अंत में उन्होंने निश्चय कर लिया कि प्रोफेसर कर्वे के साथ उस महान जिम्मेदारी को निभाने में मैं भी अपना जीवन लगा दूंगी। उनके मुख से सुनी हुई बातें और उनके साथ पैदल चलने से उसे एक शिक्षा मिली जिसका महत्व अध्यापकीय ट्रेनिंग कालेज की शिक्षा से अधिक था।

अब दिनकर चार साल का हो चला था। प्रोफेसर कर्वे ने प्रस्ताव किया है कि अब हम सब हिंगने ही जा कर वहां रहने लगें। बाया ने तुरन्त इसे मंजूर कर लिया। उन्होंने एक बैल की गाड़ी रख ली, जिससे पूना आना जाना आसान हो गया। एक दिन जब प्रोफेसर कर्वे और शकर पूना जा रहे थे, गाड़ी लकड़ी के पुल पर उलट गई। प्रोफेसर कर्वे को तो हलकी चोटें आयी, लेकिन शकर बुरी तरह घायल हो गया। इस पर अपने रहने की जगह बदलने की बात मंजूर कर लेने के लिए बाया ने अपने को बहुत कोसा।

हिंगने में सपरिवार कर्वे आश्रम के ही भोजनालय में भोजन करने के लिए सम्मिलित होते थे। बाया ने भी अन्य कार्यकर्ताओं के साथ मिल जुल कर काम करना शुरू कर दिया। बारी बारी से वह सब तरह के काम करती थीं। उनसे अन्य कार्यकर्ताओं ने मितव्ययिता सीखी। वह चाहती थी कि अधिक जिम्मेदारी के काम करें लेकिन यह देख कर उन्हें बड़ा दुख होता कि दूसरे मेरी योग्यता पर बहुत भरोसा नहीं करते। स्वयं उन्हें अपनी योग्यता और क्षमता पर पूरा भरोसा था। क्या वह बालिकाश्रम के संस्थापक की पत्नी नहीं थीं? इसके अलावा कुछ और भी था, जो उन्हें सबसे ज्यादा तकलीफ देता था। पहले वह विधवा थी और उन्होंने दूसरा विवाह किया था। आश्रम के कार्यकर्ता और उसमें रहने वाली स्त्रियां तक इस बात को भूल न

पा रही थी। वे उनका छुआ पानी तक न पीती थी। भोजन के समय उन्हें उन सब की पंक्ति से अलग होकर बैठना पड़ता था। वह जानती थीं कि उन के पति ने ये सारे भेदभाव और पाबंदियां स्वीकार कर रखी हैं, अतः वे मुझ से इस बात पर न तो किसी तरह की सहानुभूति रखेंगे और न मेरा कोई बात सुनेंगे। अतः मन मार कर वे अपने तक ही रख कर चुपचाप उन्हें सहती रही ऐसे मौके भी आए, जब कोई और होता तो क्रोध से उबल पड़ता। लेकिन उन्होंने आत्मनियन्त्रण का सतत प्रयास किया।

पत्नी की व्यथा को प्रोफेसर कर्वे जानते थे। मन ही मन वह उनकी सहनशीलता की प्रशंसा भी करते। कालान्तर में यह बात स्पष्ट होती गई कि ऐसी पत्नी का पाना कितना बड़ा वरदान है। कभी कभी यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख भी होता था पत्नी को क्या क्या और कितना कुछ सहना पड़ रहा है, लेकिन इसका सन्तोष भी था कि वह सब कुछ बड़ी हिम्मत से सह रही है। जब गरीब और जरूरतमन्द लोग उनके नारायण पेठ वाले मकान पर आते और उनकी पत्नी उन्हें घर का बचा हुआ थोड़ा-बहुत खाना दिया करती तो उन गरीबों के बीच में उसे देख कर उनका सन्तोष और प्रसन्नता और भी बढ़ जाते। मखनिया दूध, उनके यहां बहुतायत से रहता था। उसे वे उनको पीने को देतीं। साथ में कुछ पुराने कपड़े भी देतीं। जिन लोगों को ये छोटी मोटी चीजें मिलती थीं, उनमें महार और धागड भी होते थे, जिन्हें मुहल्ले की ऊंची जाति के लोग अछूत मानते थे। बाया उनसे भी वैसा ही कोमल व्यवहार करतीं, जैसा कि वह अपने लड़कों के साथ किया करती थी।

अध्याय 10

सफलता और संकट

एक तंग शैय्या पर लेटे-लेटे चुपचाप प्रोफेसर कर्वे अपने बारे में नहीं बल्कि आश्रम के भविष्य पर सोच रहे थे।

बात उस घटना के कुछ बाद की है जब वे और उनका पुत्र लकड़ी के पुल पर गाड़ी के उलटने से गिर गए थे चोटों के कारण वह कुछ समय के लिए कहीं आने-जाने लायक नहीं रहे थे। अच्छे होते तो हमेशा की तरह आश्रम के लिए धन इकट्ठा करने के लिए निकल पड़ते। पर अब सब गड़बड़ हो गया था, जिसका उन्हें अफसोस हो रहा था। उसकी देख भाल पार्वती बाई उसी कमरे में रहकर करती थी और उनके मन में भी वैसे ही विचार उठ रहे थे। वह इस चिन्ता से उनके छुटकारे का कोई रास्ता सोच रही थीं। बिस्तर के पास बैठी-बैठी वह भी विचारों में खोई हुई थीं, एकाएक उनके मन में एक उपाय कौंधा।

चुप्पी तोड़ते हुए उन्होंने कहा, "अन्ना, मेरे मन मे एक बात उठी है। अगर आपकी अनुमति हो तो इस बार चंदा इकट्ठा करने मैं बाहर जाऊं।"

अन्ना ने कहा, "तुम क्या कह रही हो? तुम जाओगी?" उनकी आवाज में और कहने के ढंग मे अचरज भरा था।

पार्वती बाई ने आत्मविश्वास के साथ कहा "हां अन्ना, और मैं आपके सामने अपनी एक योजना रखना चाहती हूं।"

अन्ना ने ज़रा लापरवाही से कहा, "अच्छा, सुनूं तो।" वह अब भी

यही समझ रहे थे कि पावती बाई जैसी नारी के लिए यह अत्यत कठिन काम है ।

"आश्रम की एक लडकी छुट्टियो मे जल्दी ही खडवा जाने वाली है उसके लिए रेल-यात्रा का पास भी बन चुका है, उसमे वह अपने साथ एक नौकर भी ले जा सकती है । मुझे वह बडी खुशी से अपने साथ ले जाएगी ।"

अन्ना चुप थे । पावती बाई के निश्चय और उत्साह पूर्ण स्वर ने उनको अभिभूत कर दिया था । उन्हे लगा कि उनका प्रस्ताव युक्ति सगत है ।

पावती बाई ने बात जारी रखी, "अगर मैं इस लडकी के साथ जाऊगी तो कुछ खर्च न होगा और कुछ भी चदा इकट्ठा न कर सकी, तब भी आश्रम की कोई हानि न होगी ।"

अन्ना ने अपनी सहमति दी । उन्हें बडा सतोष हुआ कि गर्मियो की छुट्टी मे, मेरे न जा सकने पर भी, कुछ काम तो होगा ।

इस सुअवसर को पाकर पावती बाई बडी प्रसन्न हुई । उन्होने यात्रा की सारी तैयारिया कर ली । लेकिन जिस दिन जाना था, ठीक उससे पहली रात को उनके पुत्र नाना को ज्वर आया और बढते बढते 104 डिग्री तक जा पहुचा । उस अवस्था मे वह उसे कैसे छोड सकती थी ? उन्हे सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि अन्ना से मैंने जो वादा किया, उसे मैं पूरा न कर सकूगी ।

उन्होंने प्रोफेसर कर्वे से पूछा, "अब मैं क्या करू, अन्ना ? क्या मैं इस हालत मे नाना को छोड सकती हू ?"

"इसका फैसला तो तुम्ही को करना है । मैं इतना ही कह सकता हू कि अगर तुम चली भी जाओगी तो वेणुबाई या काशीबाई नाना की देखभाल कर लेंगी और तुम्हें कोई चिन्ता करने की जरूरत नही है ।"

वेणुबाई नाम जोशी और काशीबाई देवघर आश्रम की दो आजीवन कार्य कर्मियां थी ।

पार्वती बाई ने बेधडक होकर बच्चे को अपनी सहयोगिनियों की देख-भाल मे छोडा और स्वय निश्चित होकर उस लडकी के साथ खडवा चली

गई। खंडवा में जब वह स्थानीय निवासियों से मिलीं तो यह उन लोगों के लिए एक तमाशा-सा दृश्य था कि अधेड़ उम्र की विधवा, लाल साड़ी पहने इधर-उधर घूम रही है और लोगों से मिल-जुल रही है। पार्वती बाई ने उन लोगों से कहा कि मैं एक सभा में बोलना चाहती हूँ तो किसी ने उनकी बात पर विश्वास तक न किया। कुछ लोग तो उनको उपहासास्पद समझते थे। अन्त में एक ईमानदार ने ऐसा सुयोग उपस्थित करना चाहा। जब वह शाम को उनके घर गई तो उनके कुछ मित्र मिले जो पान-सुपारी खाते हुए इकट्ठा होकर गपशप में व्यस्त थे। उस बैठक में लगभग बारह आदमी थे। पार्वती बाई कमरे में आई तो किसी ने उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। उन्होंने अपनी बात कहनी आरम्भ की और यह देखे बिना कि लोग उनकी बातें सुनते भी हैं या नहीं, बोलना जारी रखा। बात खत्म करके उन्होंने एकत्रित लोगों के पास एक पुर्जा भेजा और उन्हें यह देखकर प्रसन्नता मिश्रित आश्चर्य हुआ कि वह तेरह रुपये इकट्ठा कर सकी हैं। खंडवा से वह इंदौर गईं। वहां उनका खंडवा से अच्छा स्वागत हुआ। इस प्रयत्न के अन्त में जब वह हिंगने लौटीं तो अण्णा को देने के लिए उनके पास पांच सौ रुपये की थैली थी। इस पहले प्रयास में ही उनकी सफलता को देखकर अण्णा खुशी से फूले न समाए।

आश्रम में आने के एक दो साल तक पार्वती बाई ने आश्रम की अधीक्षिका का काम किया, लेकिन खंडवा की सफल यात्रा के बाद प्रोफेसर कर्वे ने उन्हें केवल धन संग्रह के काम में ही लगा दिया। उनके साथ बनारस यात्रा में अण्णा को वस्तुतः स्वयं भी इस बात का अनुभव हुआ कि पार्वती इस काम के लिए कितनी उपयुक्त हैं। वहां देश के विभिन्न भागों से लोग एक सामाजिक सम्मेलन के लिए आए हुए थे। प्रोफेसर कर्वे को लगा कि वे महत्वपूर्ण तथा आवश्यक विचार विमर्श में लगे हुए हैं इसलिए उनसे अपने इस छोटे-से प्रयास की बात कहना व्यर्थ होगा। पर पार्वती बाई को यह असह्य हुआ, वे खाली हाथ लौटना नहीं चाहती थीं। वह प्रतिनिधियों के तम्बू में गईं और अपनी टूटी फूटी हिन्दी में बंगाल तथा अन्य स्थानों के प्रतिनिधियों से बात करके उनमें अपने काम के प्रति रुचि उत्पन्न कर ली। वे रात की सभा में उनको

थोड़ा-सा समय देन पर राजी हो गए। उन्होने काशी बाई देवधर को अग्रेजी मे कुछ बातें कहन के लिए तैयार कर लिया था। वहा वे लगभग चालीस रुपये एकत्रित कर सकी।

राजपूताना मे टोक नाम का एक दूरवर्ती देशी राज्य था। पूना के दामोदर पत फाटक ने उस राज्य मे बहुत बरसो तक नौकरी की। सेवा निवृत्त होने पर अवकाश प्राप्त करके वह अपना शेष जीवन जन-सेवा में लगाना चाहते थे। अभी जनता की सेवा का कोई ठीक मार्ग वह ढूढ ही रहे थे कि उनके बड़े पुत्र की, जो डाक्टर हो गए थे, ताऊन की महामारी मे मृत्यु हो गई। दुख ने वृद्ध का जीवन अधकारमय कर दिया। उनका समूचा ध्यान अपनी असहाय बहू को जिसने भरपूर यौवन मे अचानक पति को खो दिया था, धीरज बधान और उसकी तथा उसके बच्चो की परवरिश का प्रबध करने मे लग गया, पर इस दुख की अवस्था म भी सामाजिक काम करने का सकल्प उन्होंने नही छोड़ा।

पुत्र की मृत्यु के तीसरे ही दिन दामोदर पत प्रोफेसर कर्वे के पास गए। प्रोफेसर कर्वे को अभी हिंगने मे बालिकाश्रम खोले ज्यादा समय नही हुआ था। वे लोग इससे पहले नही मिले थे। प्रोफेसर कर्वे बाहर गए हुए थे। इसलिए दामोदर पत वहा अपना नाम और पता छोड आए। इसके दूसरे ही दिन प्रोफेसर कर्वे स्वय उनके घर गए। दामोदर पत ने अपना परिचय दिया और अपनी विपत्ति की कथा सुना कर कहा कि मैं आपका आश्रम देखना चाहता हू। श्री फाटक न बालिकाश्रम मे चार घटे बिताए। वहा उन्हे बडी सात्वना मिली और लौट कर उन्होन अपनी पत्नी यशोदाबाई को बताया कि उन्होंने हिंगने मे क्या कुछ देखा। वे यशोदाबाई के साथ भी बाद म तीन बार आश्रम गए और हर बार उनके स तप्त हृदयो को वदना का वहा जाकर बहुत उपशमन हुआ। उन्हे अनुभव हुआ कि इस लोक मे कुछ ऐसा भी है, जो किसी व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत चिताओ और पीडाओ से ऊपर उठाकर उसे नए प्रकार का जीवन दे सकता है। उस आश्रम के सस्थापक के लिए श्लाघा और श्रद्धा के साथ साथ उसकी कुछ सहायता करने की उनमे इतनी उत्कट इच्छा जगी कि एक दिन वे दोनो पाच सौ रुपये लेकर

उनके पास गए और उनसे प्रार्थना की कि इस सविनय किए गए स्वल्प समर्पण को आश्रम के लिए स्वीकार कर लें।

दामोदर पंत ने कहा, "ये रुपये हमने श्री रामेश्वर की तीर्थ यात्रा के लिए बचाए थे। लेकिन अब हम दोनों सोच रहे हैं कि यदि आप अपने इस भले काम के लिए इन्हें स्वीकार कर लें तो इनका अधिक अच्छा विनियोग होगा।"

उस समय प्रोफेसर कर्वे ने देखा कि उनके प्रसन्न मुख मण्डल में एक आभा चमक रही थी। उनका हृदय कृतज्ञता से भर गया। वह एक शब्द भी नहीं बोल सके। उनकी दयालुता से उन्हें अपने नूतन प्रयास को आगे बढ़ा ले जाने की शक्ति मिली। जिस साधु भावना ने उन्हें इस दान की प्रेरणा दी उसका मूल्य उन सिक्कों की संख्या से अनन्त गुना अधिक था।

सन् 1903 की दीवाली की छुट्टियों में प्रोफेसर कर्वे के पास दो अप्रत्याशित अतिथि आए। उनमें से एक राजकोट के सीताराम नारायण पंडित थे। प्रोफेसर कर्वे इनसे सामाजिक सम्मेलन के एक अधिवेशन में मिल चुके थे। श्री पंडित की उदारता के अनुरोध से उनमें कुछ स्वल्प काल तक बात करने की अनुमति प्राप्त करके उन्हें आश्रम के बारे में थोड़ी बहुत बातें बताई थीं। यद्यपि उन्होंने श्री पंडित को आश्रम में आने का निमंत्रण भी दिया था, पर उनका ख्याल था कि कुछ घंटों के बाद ही शायद उन्हें इस निमंत्रण की याद भी न रहेगी। इसलिए उनका आगमन बड़ा सुखद और विस्मयकारक भी था। उनके साथ दूसरे व्यक्ति श्री पंडित के भतीजे नारायण भास्कर पंडित थे। उन्हें कर्वे जानते थे।

उनके इस आगमन के कुछ दिनों के बाद प्रोफेसर कर्वे को सीताराम नारायण पंडित का तीन सौ रुपये का एक चेक मिला। उन्होंने चेक के साथ संलग्न पत्र में यह भी लिखा था कि आपको जब कभी रुपयों की जरूरत हो या आप कठिनाई में हों मुझे सूचना दें।

किन्तु जल्दी ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि श्री पंडित ऐसे व्यक्ति नहीं हैं जो तब तक प्रतीक्षा करते हैं जब तक जरूरतमंद आदमी सहायता के लिये

उनके पास नहीं पहुचता। वह जानते थे कि इस प्रकार की अनाथ बालिका-श्रम जैसी संस्था को अपने काम का विस्तार करने और सामान्य खर्च के लिये सहायता की आवश्यकता सदा होती ही रहती है। अत अभी ज्यादा दिन नहीं बीते थे कि उन्होंने फिर पचास रुपये भेज दिए और लिखा कि मैं प्रति मास इतनी रकम भेजना चाहता हू। सन् 1904 में जब आश्रम की नई इमारत बनाने की पूरी योजना बन गई तो श्री पडित ने एक हजार रुपये का चदा भेजा। कर्वे का हृदय कृतज्ञता से गद्गद् हो उठा। उन्होंने श्री पडित को एक पत्र मे धन्यवाद दिया। अपने उत्तर म श्री पडित ने लिखा —

"मेरे हार्दिक और कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद के पात्र तो आप ह जिन्होंने मुझे एक अच्छे काम के लिए अपने धन का सदुपयोग करने का यह अपूर्व अवसर दिया।"

सन् 1904 मे भारतीय सामाजिक सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन बम्बई में हुआ। इस समय तक पार्वती बाई अनाथ बालिकाश्रम के काय से, विशेष कर धन-सग्रह के लिए परिभ्रमण करके, सामाजिक कायकर्त्री के रूप में प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। उनसे सम्मेलन मे भाषण का आग्रह किया गया और उन्हें इस अवसर को पाकर प्रसन्नता हुई। दीर्घकाल से कुछ लोगो मे प्रचलित पश्चिमी वेश भूषा और रहन सहन के तौर तरीके उनकी आखों मे गड रहे थे। इन्हें काफी स्त्री पुरुषों ने सुधार और शिष्टता मानकर अपना रखा था और उनका प्रचार भी करना शुरू कर दिया था। पर पार्वती बाई की मान्यताए इस विषय म बिलकुल निश्चित और स्पष्ट थी। उन्होंने सभा में असामान्य साहस प्रदर्शित किया, जिससे वहा पर उपस्थित बहुसख्यक शिक्षित स्त्री पुरुष जो अपने को सुधारक कहते थे, आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने उन्हें अविचारपूर्वक पश्चिमी रीतियो को अपनाने और अधों की तरह अनुकरण करने के विरुद्ध चेतावनी दी। उन्होंने कहा, इससे भारतीय समाज की अपरिमित हानि हो रही है। उन्होंने कहा, कि पाश्चात्य सभ्यता को अपनाते समय केवल इस बात की अपेक्षा है कि उनकी सस्कृति का विवेकपूर्वक पर्यालोचन करके सचेत और सावधान रहकर पश्चिमी रीति नीतियो का केवल सम्यक

अगों मे ग्रहण किया जाए और जो कुछ अशालीन तथा हमारी सस्कृति के प्रतिकूल हो, उसे छोड दिया जाए।

पावती वाई के भाषण से सनसनी फैल गई। कई लोगों ने इसे अपना व्यक्तिगत निरादर समझा। उपस्थित छात्रो और युवक युवतियो ने उनकी झंकार की ओर जोर जोर से तालिया बजाकर उनको प्रोत्साहित किया। उनका भाषण समाप्त होने से पहले ही वे उनकी ओर से आश्रम के लिए चदा इकट्ठा करने लगे।

स्वभावत प्रोफसर कर्वे न तो किसी को चोट पहुचा सकते थे और सच होने पर भी कठोर शब्दो का प्रयोग नही करते थे। अपनी इस स्वाभाविक वृत्ति के कारण उनको इससे दुख हुआ। वह सोचने लगे कि पावती बाई को अधिक व्यवहार कुशलता अपेक्षित थी और उन्ह आत्म सयम के साथ बोलना चाहिए था। पावती बाई न तथाकथित सुधार की भ्रमपूण भावना और शिक्षित समाज मे पश्चिमी रहन सहन के तौर तरीको की बढती हुई प्रवत्ति के विरुद्ध प्रबल अभियान किया था। उनके इस आक्रमण का प्रभाव चिरकालिक था और उसकी गूज बहुत दिनो तक बनी रही। पत्रो ने उनके विरोध म कडी टिप्पणिया लिखी और प्रोफेसर कर्वे क शुभचिन्तको ने उनको पत्र लिखकर माग की कि पावती बाई को आश्रम म किसी पद पर न रखने दिया जाए। प्रोफसर कर्वे इस तरह के पत्रो और आलोचनाओ स निबटना जानत थे। उन्होने सबको आश्वासन दिया कि आश्रम के सचालक इस मामले पर सावधानी से विचार करेंगे।

बालिकाश्रम को एक गुजराती शुभचिंतक न ढाई हजार रुपय देने चाहे। उसकी प्रस्तावित इच्छा यही थी कि इस रकम से एक छोटा सा मदिर बनाया जाए और हैजा ताऊन आदि सक्रामक रोगो की चिकित्सा के लिए एक अस्पताल खोला जाए। चिकित्सालय को खोलन और चलाने म तो कोई दिक्कत न थी। मदिर का विचार भी था तो अच्छा, लेकिन उसकी दख भाल और पूजा का प्रबध करना सरल नही था। आश्रम की अधिकाश अतेवासिनिया ऐसी विधवाए थी जिन्होन केश बढा रखे थ। प्राचीनकाल से यह मा यता

चली आती थी कि पूजा का जल अथवा अन्य पूजन-सामग्री का ऐसी विधवाओं द्वारा स्पर्श अशुद्धकर है। अतः प्रोफेसर कर्वे ने विनम्रतापूर्वक, शर्तों में कुछ परिवर्तन का सुझाव दिया। एन०टी० वैद्य मध्यस्थ थे। उन्होंने प्रोफेसर कर्वे को बतलाया कि गुजराती सज्जन यों फेर-बदल मंजूर होंगे। लेकिन कुछ समय बाद अचानक उन सज्जन ने अपना विचार बदल दिया और किन्हीं कारणों से, जिन्हें बताया नहीं गया, उन्होंने अपनी बात वापस ले ली। सनातनी पत्रों को इस इनकार से संस्था पर आक्रमण करने का पर्याप्त बहाना मिल गया। क्योंकि उनका ऐसा विश्वास था, और इस प्रकार का वे तर्क भी किया करते थे, कि यह संस्था धर्म को बहुत हानि पहुंचा रही है।

बालिकाश्रम का काम बढ़ता गया, उसमें उलझनें आती गईं और वह ज्यादा मेहनत मांगने लगा तो प्रोफेसर कर्वे ने सोचा कि अपना सारा समय और ध्यान उसी को दिया जाए। अतः डेकन एज्यूकेशन सोसाइटी के आजीवन सदस्य होने के नाते उन्होंने उससे अवकाश प्राप्त करने की अनुमति मांगी। उनका आवेदन स्वीकार नहीं हुआ। सोसाइटी ने लम्बी छुट्टी का विकल्प रखा और उनको तीन साल की वेतनरहित छुट्टी दे भी दी। सन् 1904 के आरम्भ से इस प्रकार वह अपना सारा समय आश्रम के विकास कार्य में लगाने लगे। किन्तु एक साल के अन्दर ही उन्हें ऐसा लगने लगा कि कालेज से अलग रहना आवश्यक नहीं है। तब तक पार्वती बाई और दो अन्य कार्यकर्त्रियों ने आश्रम का काम संभाल लिया था। पार्वती बाई तो धन-संग्रह का काम करती थीं और शेष दो, काशी बाई देवधर और वेणुबाई नामजोशी, आश्रम में रहकर उसके सभी विभागों के काम की देख भाल करती थीं। इन तीनों आजीवन कार्यकर्त्रियों ने अथक परिश्रम करके आश्रम की ठोस नींव डाली।

काशी बाई देवधर ने आजीवन-सदस्य के रूप में 1904 में आश्रम में प्रवेश किया था, पर वास्तव में इस संस्था के साथ उनका संबंध बहुत पहले से था। वह उन लोगों में से थीं जिन्होंने उस प्रारम्भिक समय से ही इसके प्रबंध में सहायता प्रारम्भ कर दी थी जब उसका अपना भवन नहीं था। वह बाल विधवा थीं और अपने वैधव्य के आरम्भिक वर्ष उन्होंने शारदा सदन में बिताए थे। दूसरी विधवा, जिनकी आरम्भिक शिक्षा शारदा सदन में ही हुई

थी और बाद में जो प्रोफेसर कर्वे के बालिकाश्रम मे आई थीं, वेणुबाई नाम जोशी थीं। वह अमरावती की रहने वाली थीं। उनके चचेरे भाई, फर्गुसन कालेज के प्रिंसिपल जी०जी० आगरकर उन्हें पूना ले आए थे। उन्होंने उनको शारदा सदन में भरती कराया और प्रोत्साहन के अतिरिक्त वे सारी सुविधाएं भी उनको उपलब्ध कराई थीं जिनकी उस कठिन समय में आवश्यकता थी। काशी बाई देवधर और वेणुबाई नामजोशी दोनों व्यवस्था-सम्बन्धी सारा काम करती थीं और आश्रम की निरीक्षिका के पद पर नियुक्त थीं।

अन्ना साहब कर्वे द्वारा स्थापित होने के बाद इस संस्था को कभी भी महिला-कार्यकत्रियों का अभाव नहीं रहा। इस प्रकार की महिलाओं के कल्याण की संस्थाओं का संचालन स्वयं महिलाएं ही करें, यही उनको इष्ट था और उनका यह आदर्श पूरा भी हुआ। प्रारम्भ से ही उनकी सभी सहयोगी और सहायक महिलाएं ही रहीं। तीन अग्रगामी कार्यकत्रियों का अन्य महिलाओं ने भी अनुसरण किया। इसमे एक कृष्णाबाई कालके थीं, भंडार और रसोई की देख भाल करके उन्होने बहुमूल्य काम किया। तीन और महिलाओं ने आश्रम के आरम्भिक विकास में हाथ बटाया था और आश्रम तथा उसके संस्थापक उनके भी समान रूप से कृतज्ञ थे। बनुताई देशपाडे, आनदी बाई मराठे और दुर्गाबाई किर्लोस्कर की छाप आश्रम के इतिहास पर पडी और उसके संस्थापक अन्ना की स्मृति में उनकी कृतज्ञता सदा अंकित रही।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सदा अवसर मिलने पर यथासम्भव रूढ़िग्रस्त सनातन मत के समर्थकों को अनाथ बालिकाश्रम और उसके संस्थापक पर कीचड़ उछालने मे मजा आता था। उनका एक सबसे गर्हित कार्य यह था कि वे बालिकाश्रम का वर्णन करते हुए उसे ऐसा कारखाना कहा करते थे जहां विधवा विवाह के लिए कच्चा माल तैयार किया जाता है। प्रोफेसर कर्वे ऐसे आक्षेपों विद्रूप खिल्ली और उपहासों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। वे उनसे चौकस अवश्य रहते थे पर ऐसे आलोचकों और विरोधियों के प्रति उनका भाव बुद्धिमत्तापूर्ण उपेक्षा का रहता था। न तो वह उनका उत्तर देते

और न उन आक्षेपों की सफाई देने का ही प्रयास करते। लेकिन कभी कभी ऐसे भी मौके आ ही जाते थे जब अपनी स्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता था। 16 अगस्त, 1905 को बेलगाव के एक समाचारपत्र 'चिकित्सक' ने 'पुनर्विवाहित' के नाम से उनके विरुद्ध एक पत्र छापा। वास्तव में जब अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना हुई थी और विधवा विवाह के विषय में उसकी निरपेक्षता का व्यापक प्रचार हुआ तो प्रोफेसर कर्वे की आलोचना कुछ सुधारक भी करने लग गए थे। उन लोगों का तर्क था कि इस आश्रम की स्थापना ही एक प्रतिक्रियावादी कदम है—यहा तक कि स्वय उसके सस्थापक प्रोफेसर कर्वे इसके पहले विधवा विवाह के प्रचार का जो थोड़ा बहुत काम कर रहे थे, उसे भी उन्होंने छोड़ दिया है। परन्तु इसके विपरीत प्रोफेसर कर्वे का आन्तरिक विश्वास था कि आश्रम फल फूल तो सकता है, पर केवल तब, जब उसके कार्य कलाप से विधवा विवाह के आन्दोलन का लेशमात्र दूर का भी सम्बध न रखा जाए। बालिकाश्रम की स्थापना का केवल मात्र विशेष उद्देश्य था—विधवाओं के लिए शिक्षा की सुविधाए जुटाना—न इससे कुछ कम, न अधिक बस, इतना ही। उस समय समाज मे विधवाओं की शिक्षा की अपेक्षा विधवा विवाह का कहीं ज्यादा विरोध होता था। पंडिता रमाबाई के शारदा सदन के प्रारम्भिक इतिहास ने और विधवा-विवाह समिति की ओर से चलाए गए स्वय कर्वे के अपने आन्दोलन ने निर्विवाद और सन्देह-रहित रूप से इस तथ्य की यथार्थता को प्रमाणित कर दिया था। यदि आश्रम मे रहने वाली विधवाओं को पुनर्विवाह के लिए अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रोत्साहित किया जाता तो इससे आश्रम के मुख्य कार्य को हानि पहुचती, क्योंकि कई ऐसे लोग भी थे, जिन्हें यद्यपि अपनी विधवा बेटियों या बहनों को प्रशिक्षित करने में कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन वे उनके पुनर्विवाह के प्रश्न पर विचार भी करना पसन्द नहीं करते थे। प्रोफेसर कर्वे ने जो मार्ग अपनाया था, वह बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सावधानी का था। आश्रम में रहने वाली किसी विधवा के पुनर्विवाह के सम्बध में यदि कोई बातचीत चलती या उसके प्रयास किए जाते तो उनसे कर्वे सदा अलग रहते और अपना सम्बध नहीं जोड़ते थे। मगर आश्रम छोड़ने के बाद भी किसी अन्तेवासिनी का विवाह

होता था और उसमें उनके माता पिता या अन्य बुजुर्गों की सहमति न होती थी, तो वह उस विवाह में सम्मिलित न होते थे।

विधवा विवाह के समर्थक उनके कुछ बहुत अच्छे मित्रों की समझ में भी उनका यह भाव बड़ी कठिनता से आता था। या अगर वे उसे समझते भी थे तो उनसे सहमत होना उनके लिए कठिन था। अगर किसी का लक्ष्य या काम अच्छा है तो उसका समर्थन होना चाहिए। प्रोफेसर कर्वे विधवा विवाह के आदि समर्थकों में से थे। सच तो यह है कि उनका अपना विवाह अपने ढंग का पहला नहीं तो पूना में होने वाले ऐसे विवाहों की परम्परा के प्रारम्भ में दृष्टान्तस्वरूप था। उन लोगों के मत में किसी भी दूसरे उद्देश्य के लिए इस काम को छोड़ देना यदि विश्वासघात नहीं तो पलायन अथवा परित्याग अवश्य था। कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे थे कि प्रोफेसर कर्वे ने विधवा से विवाह करके आगे बढ़ने के लिए जो डग भरा था अब उन्हें उसका पश्चाताप हो रहा है और यदि अब ऐसा करना उनके लिए सम्भव होता तो वह अपना कदम पीछे भी हटा लेते।

बेलगाव के सम्वादपत्र 'चिकित्सक' में छपे हुए 'पुनर्विवाहित' के पत्र में ये सारे तर्क विस्तारपूर्वक दिए गए थे, और इसमें चुन चुनकर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया था जो तीर की तरह तीखे थे।

लेखक ने पूछा था "प्रोफेसर साहब, आपका उद्देश्य या अभिप्राय क्या है? क्या यह इरादा है कि आपके आश्रम की विधवाएं, अध्यापिका, नर्स, दर्जिन या कोई ऐसा ही काम करने की तालीम पाएं, जिससे समय आने पर वे समाज में जाएं और उन अपने से अधिक भाग्यशाली बहनों की नौकरानी या अनुचरी बनें, जिसके पास एक अपना घर है और पति तथा बाल-बच्चे हैं?'

उन्होंने प्रोफेसर कर्वे को ललकारा था और उन्हें यह चुनौती भी दी थी —

"यदि अब आप समझने लगे हैं कि विधवाओं का विवाह पाप है तो आप में इतनी नम्रता और इतना साहस तो होना ही चाहिए कि आप इसे स्वीकार करें।"

उनका प्रधान आरोप था

"आप ऐसा व्यवहार करते है जिससे आपके आश्रम मे रहने वाली स्त्रियो के विचारो पर ऐसा प्रभाव पडता है कि मानो पुनर्विवाह करना एक पाप है। क्या आपके सहकारी कुछ शब्दाडम्बर के साथ उनसे ऐसा नही कहते ?"

लेखक ने इस शोचनीय बात पर अफसोस जाहिर किया था कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने विधवा विवाहोत्तेजक मडल की स्थापना से सामाजिक काय प्रारम्भ किया हो, वही अध पतन होने पर सीढी दर सीढी उतरता चले और समिति का नाम तक बदल कर उसे एक निर्जीव, सौम्य और पालतू सा नाम दे दे और केवल विधवाओ की शिक्षा के विशिष्ट और एकमात्र उद्देश्य से विधवासदन खोले।

सम्भवत प्रोफेसर कर्वे 'चिकित्सक' मे प्रकाशित इस पत्र को उसकी तरफ से आख मूद कर अपनी मौन अनुमति दे देते, लेकिन उनके प्रकाशन के परिणाम से वह उदासीन नहीं रह सके। विशेषतया उस पत्र की प्रतिध्वनि पूना के 'सुधारक' और बबई की 'सुबोध पत्रिका' मे देखकर उन्हें तकलीफ हुई। 'सुधारक' ने प्रोफेसर कर्वे जसे व्यक्तियो की भत्सना कर के प्रभाव उत्पादन करने के लिए जोरदार झिडकी देने की आवश्यकता पर जोर दिया था, जिनकी तटस्थता के समथन मे कोई भी दलील, पत्र के मत से, समझ मे न आने वाली बात थी।

'चिकित्सक' मे 'पुनर्विवाहित के पत्र' के प्रकाशन के लगभग आठ महीनो बाद, 6 अप्रैल 1906 को 'सुधारक' मे एक पत्र छपा जिसमे प्रोफेसर कर्वे ने अपने आलोचको को उत्तर दिया था। यह पत्र सहनशीलता, धैर्य और सयमपूर्वक लिखा गया था।

'विधवा विवाह के अपने प्रारभिक काय मे मैं भी बडे चाव से नम्रता और गभीरतापूर्वक उसी पथ पर चला जिस पर कलकत्ता में ईश्वरचद्र विद्यासागर और हमारी तरफ के विष्णुशास्त्री पडित चले थ और यथाशक्ति मैंने उनका ही अनुसरण किया। आज भी यह काम मेरे अनेक मित्रों द्वारा बडी योग्यता से किया जा रहा है। मेरे हृदय म उनके लिए बडा सम्मान

है। मैंने प्रयत्न किसी भी शब्द या कार्य से उनके मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाया। साथ ही मेरा विनम्र निवेदन है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार है कि वह अपनी समझ के अनुसार समाज के कल्याण के लिए उपयोगी काम करे।"

विधवाओं के पुनर्विवाह और उनको शिक्षित करने के लिए चलाये गए दो आन्दोलनों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा

यह मेरी सुनिश्चित और सुदृढ़ धारणा है कि विधवाओं की शिक्षा का काम तभी सुचारु रूप से आगे बढ़ सकता है जब उसे विधवाओं के विवाह के लिए किए जा रहे काम से बिलकुल अलग रक्खा जाए। विधवा विवाह समिति ने ही सर्वप्रथम विधवा आश्रम खोलने का विचार करके इस कार्य का श्रीगणेश किया। लेकिन अन्ततोगत्वा सावधानी से विचार करने के बाद यह निश्चित हुआ कि दोनों आन्दोलनों को स्वतन्त्र और एक दूसरे से बिलकुल अलग रखा जाए।"

उन्होंने नम्रतापूर्वक स्वीकार किया कि जब मैंने बालिकाश्रम का काम अपने हाथ में लिया तो मुझे विधवा विवाह समिति का काम छोड़ देना पड़ा। लेकिन उन्होंने अपने आलोचकों को विश्वास दिलाया कि अतत विधवाओं को शिक्षा देने से उनके विवाह के लिए आन्दोलन करने की अपेक्षा अधिक बड़ा काम सिद्ध होगा।

इसके बाद अखबारों में इस विषय पर और लिखा पढ़ी नहीं हुई, लेकिन कुछ बरसों बाद, 1911 में अनाथ बालिकाश्रम के एक सरक्षक ने यह माग की कि आश्रम के व्यवस्थापक विधवा विवाह के प्रति तटस्थता का अपना रुख बदलें और साफ साफ कहें कि वे इस उद्देश्य का समर्थन करते हैं या नहीं। 21 जून, 1911 को बालिकाश्रम की व्यवस्थापिका समिति ने उस पत्र पर विचार किया और सर्वसम्मति से निम्नांकित प्रस्ताव पास किया गया

"हिंदू विधवाओं का यह भवन एक सुनिश्चित नियमनिष्ठ पूर्णतया केवल शैक्षिणक संस्था है और इस कारण, विधवा विवाह के प्रश्न के प्रति इसका

दृष्टिकोण और नीति सपूर्ण तटस्थता से ही हो सकती है। तथापि समिति का यह मत है कि यदि किसी विधवा के अभिभावक उसका विवाह करना चाहें और इसके लिए जब भी सक्रिय कदम उठाए तो उसके पूर्व उनसे यह अपेक्षित होगा कि अभिभावक उस विधवा को भवन से हटा लें। यह अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घटना का भवन की अन्य लड़कियो के मन पर अशातिकारक प्रभाव अवश्य पड़ेगा।"

प्रोफेसर कर्वे और हिंदू विधवा भवन समिति के उनके अन्य सहयोगियो का यह निर्णय कितना महत्वपूर्ण और दूरगामी था, इसकी उन्हें कल्पना भी न थी। यदि आश्रम के सस्थापक केवल विधवा विवाह समिति से ही चिपके रहते तो शायद वे कुछ अधिक सख्या मे पुनर्विवाह कराने मे सहायक होते। किंतु उन्होने उस काम से हाथ खीच लिया तो भी कोई बड़ा फर्क नही पड़ा। इसके विपरीत उन्होने सन 1896 मे जिस बालिकाश्रम की स्थापना की, वह बरगद के बीज की तरह साबित हुआ, जिससे एक विशाल वृक्ष विकसित हुआ। उस वृक्ष की शाखाए दूर दूर तक फैली और वह आधुनिक भारत का आश्चर्य बना। इसीलिए उनको सभी लोग बाद मे महर्षि कहते थे और यह उपयुक्त भी था। वे एक महान द्रष्टा थे जिन्होने उन अधकारपूर्ण दिनों में सुदूर भविष्य के अदर झाक कर अच्छे दिनो का स्वप्न देखा। उनकी यह कल्पना केवल उन मुट्ठी भर विधवाओ के लिए नही थी जिनको स्वीकृति लेकर उनका पुनर्विवाह किया जा सकता था—उन्होने उन असख्य ललनाओ के विषय मे सोचा जिनके एक बड़े समूह ने शिक्षा का लाभ पाया और जो आज समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे सम्मानपूर्वक स्वतत्र पदों पर आसीन हैं।

अनाथ बालिकाश्रम का प्रारभिक इतिहास निरतर एक सर्वांगीण प्रगति की कहानी है। यद्यपि उसके मार्ग में बड़ी बड़ी कठिनाइया थी, जिन्हें पार करना था, दुष्कर कार्य थे, जिन्हे पूरा करना था, लेकिन इन सबको झेलने के लिए निस्वार्थ कार्यकर्ता लगातार आगे आते रहे और सर्वोपरि स्वय सान्त्वना की प्रतिमूर्ति प्रोफेसर कर्वे उन सबके पथ को आलोकित करने वाले प्रकाश के उद्गम थे।

आश्रम के उन प्रारभिक दिनो म प्रोफेसर कर्वे ने कई लब्ध प्रतिष्ठ विशिष्ट पुरुषो का स्वागत करने का गौरव पाया और इससे उन्हे प्रसन्नता हुई—उनम गाधीजी भी थे। कुछ राजे महाराजे थे, गवनर और उनकी पत्निया थी, राजनीतिज्ञ और प्रशासक थ तथा सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। पर एक अविस्मरणीय सुखद घडी वह थी जब आश्रम मे आने वालो म उन्होने अपनी मा और बडे भाई दादा को देखा और उनके इस आगमन को वह सबसे अधिक प्रसन्नता और गौरव से याद करते थे। यह सन् 1902 की बात है। तब वे पढरपुर से घर लौटते हुए पूना आए थे। यद्यपि वे रहने के लिए उनके घर मे उनके साथ टिके नही, लेकिन उनका आश्रम देखने अवश्य आए थे। जब उन्होने देखा कि धोडू कितना अच्छा काम कर रहा है और किस खूबी से कर रहा है तो दोनो के गालो पर खुशी के आसू बह आए। उनकी इस विरल अश्रुधारा से प्रोफेसर कर्वे को सतोष हुआ कि जो भी हो, मैंने अपने प्रारंभिक विकास का अधिकाश आधार जिनसे पाया था, उन का सद्भाव नही खोया है और मेरा काम उन दोनो का आशीर्वाद पाने के योग्य रहा है।

आश्रम मे वह दादा का पहला आगमन था, लेकिन अतिम नही। बारह वर्ष बाद वे फिर आए। इस बार उनके साथ अबा ताई थी। उसी समय प्रोफेसर कर्वे के मामा और मामी (डा० आर० पी० पराजपे के माता पिता) भी आश्रम देखने के लिए आए हुए थे। उन चारों को आश्रम म देखना और उन आत्मीयो के मुह से सतोषप्रद प्रशसोक्तियो को सुनना कुछ ऐसी बात थी जिसकी तुलना प्रोफेसर कर्वे अपने जीवन मे उपार्जित किसी दूसरी उपलब्धि से सहज ही नही कर सकते थे।

अध्याय 11

महिला विद्यालय

इधर आश्रम चतुर्दिक प्रगति करता हुआ अधिकाधिक सुदृढ़ होता जा रहा था, उधर उसके संस्थापक भी पचास वर्ष के होने जा रहे थे। डेकन एजुकेशन सोसायटी के आजीवन कार्यकर्ता और आश्रम के संचालक होने के नाते प्रोफेसर कर्वे के पास इतना अधिक काम था कि जब तक वह जगे रहते उसी मे व्यस्त रहते। जैसे जैसे आश्रम में उनका काम बढ रहा था, वैसे-वैसे उनको लगने लगा कि इसके परिणामस्वरूप सम्भवत उनके द्वारा कालेज के काम की उपेक्षा हो रही है। उन्हें इस बात की चिंता नही थी कि दूसरे इसके बारे मे क्या सोचेंगे लेकिन उन्हें इस बात की फिक्र अवश्य लग गई कि डेकन एजुकेशन सोसायटी से मैं जो कुछ पाता हू, उसके बदले मे मुझे उसका पूरा काम करना चाहिए और अगर मैं ऐसा नही कर सकता तो मुझे उसका सक्रिय सदस्य बने रहने का कोई अधिकार नही है। उधर आश्रम को उनसे अपेक्षा थी कि वे उसकी ओर अपना अधिकाधिक ध्यान और शक्ति दें। क्या इसका यह तात्पर्य नहीं था कि अपनी सोसायटी के प्रति जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा पाना उनके लिए सम्भव नही था? अत सोसायटी से अवकाश प्राप्त करने का विचार एक बार फिर उनके मन मे उठने लगा। उन्होने इस विषय मे बाया से बात की, लेकिन वह कुछ भी सुनने को तैयार नही थीं।

उन्होने कहा, 'आप बाल-बच्चेदार हैं। कुछ उनके भविष्य की बात भी सोचनी है। अगर आप उस सेवा से बीस साल पूरे करने से पहले ही अवकाश ग्रहण कर लेंगे तो काम कैसे चलेगा? अभी तो पेंशन के हकदार नहीं होगे।

अपने खर्च के लिए आपको पेंशन की जरूरत भले ही न हो, लेकिन अपने तीन लडको की शिक्षा के लिए मुझे उसकी आवश्यकता है। आप यह आशा तो नहीं कर सकते कि आश्रम ही आपकी पत्नी और आपके बच्चो की भी देख भाल और परवरिश करेगा। इसलिए यह उचित नही कि आप अपने परिवार की उपेक्षा करें—भले ही वह आश्रम के कारण ही क्या न हो।"

जब उन्होने सोसायटी के अन्य सदस्यो से बात की, तो उन्होने भी उनको अवकाश ग्रहण करने की अनुमति नही दी, लेकिन सन् 1904 मे उन्होंने उन्हे तीन साल की छुट्टी लेने की छूट दे दी।

इन तमाम वर्षों मे बाया ने अपने पति को परिवार के पालन-पोषण के प्राय सभी झझटो से छुट्टी दे रखी थी। ऐसे मौके भी आए जब वह उदास हो जातीं। कभी पुत्रों के प्रति पति की उदासीनता पर विचार करने से उनके मन मे आक्रोश उत्पन्न होता तो उन्हे क्रोध भी आ जाता। कभी-कभी बच्चे स्कूल में कोई ऐसी वैसी बात हो जाने से उदास और थोडा उत्तेजित भी होकर लौटते। वे मा से शिकायत करते और पूछते कि हमारे पास पहनने को अच्छे कपडे क्यों नहीं हैं या हम खेल-कूद में तथा अन्य मनोरजनो मे दूसरे बच्चों की तरह भाग क्यो नहीं ले सकते? हमे ये सब सुविधाए क्यो नहीं मिलती? यद्यपि उनकी बातें सुनकर बाया का दिल भर आता पर वह उन्हें दिलासा देते हुए कहती कि तुम अपने से अधिक गरीब बच्चो की तरफ तो देखो और सोचो कि उन लोगो से तुम्हारी हालत कितनी अच्छी है।

उन्हें सात्वना देने के लिए बाया कहती, "कपडे या भोग विलास की आरामदेह चीजें आदमी को बडा नही बनातीं। यद्यपि तुम्हारे पिता की आमदनी अच्छी नही है, लेकिन वह बहुत अच्छे अच्छे काम करते हैं। वह चाहते हैं कि बीस साल के होने से पहले तुम लोग अपनी शिक्षा पूरी कर लो। जब तुम लोग बडे हो जाओगे और अपने परिश्रम से कमाने लगोगे तो तुम आज के मुकाबले म अधिक आनन्द पा सकोगे।"

बाया घर की और बच्चों की देख भाल करतीं जिससे प्रोफेसर कर्वे एकाग्रता से अपने काम म लीन रहते। उनके मन मे न सिर्फ आश्रम की

उन्नति के विचार होते, बल्कि वह अपने उद्देश्य की सीमा के अन्दर उसकी परिधि का विस्तार करते हुए कार्यक्षेत्र को बढाने के लिए भी नए नए प्रस्तावो पर विचार करते रहते ।

अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना विशेष रूप से विधवाओ के लाभ की दृष्टि से की गई थी। परन्तु अब उसके व्यवस्थापको को यह नितात आवश्यक लगा कि अविवाहित लडकियो को भी आश्रम मे भरती होने दिया जाए। सन 1899 मे रत्नागिरि से एक सज्जन ने प्रोफेसर कर्वे को पत्र लिखकर पूछा, "क्या आप मेरी तीन लडकियो को, जो क्रमश 14, 12 और 10 वर्ष की हैं, अपने आश्रम मे भरती कर सकेंगे ?" उन्होने लिखा था—

"ज्येष्ठ लडकी विधवा है। अगर मैं उसे अकेली आश्रम मे भेज दू तो भी बाकी दो कन्याओ के लिए जल्दी उपयुक्त वर मिलना कठिन होगा। वे भी घर मे बेकार पडी रहेंगी। यद्यपि मैं इन तीनो के भोजन, निवास और शिक्षा के लिए काफी रकम न दे सकू गा, लेकिन मैं चाहता हू कि वे शिक्षित बनें। कृपया आप मुझे सलाह दें।"

प्रोफेसर कर्वे को कौतूहल हुआ। वह उन सज्जन और उनकी कन्याओं से मिलने गए। उन्हे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि तीनो लडकिया बुद्धिमती, समझदार और होनहार थी। उन्होने तुरन्त उन्हे भरती कर लेने का निश्चय किया। लेकिन उनकी एक शर्त थी। उन्होने उनके पिता से कहा कि जब तक वे अठारह साल की न हो जाए, आप उनके विवाह की बात न सोचें। उनका प्रस्ताव मान लिया गया। सन 1900 के आरम्भ मे दोनो छोटी कुमारिया अपनी विधवा बहन के साथ आश्रम मे आ गईं।

यह अविवाहित कन्याओ के प्रवेश का आरम्भ था। बाद मे ऐसी बालिकाओ की सख्या तेजी से बढी जो विधवा नही थी। सन 1900 में यह सख्या 2 थी। सन् 1906 के अत मे आश्रम की कुल 75 लडकियो मे अविवाहित कन्याए 19 हो गईं। तब आश्रम के व्यवस्थापको को यह नियम बनाना पडा कि अविवाहित लडकियो या ऐसी लडकियों की सख्या, जो विधवा

नही है, आश्रम की कुल अंतेवासिनियों की संख्या में एक चौथाई से अधिक नही होगी।

जिस उद्देश्य से आश्रम की स्थापना हुई थी, यह निर्णय उसके अनुकूल था। प्रोफेसर कर्वे इस पर कोई आपत्ति नही उठा पाए। पर फिर भी उन्हे यह देख कर दु:ख होता था कि बहुत सी अविवाहित कन्याओं के आवेदन उन्हें नामंजूर कर देने पडते थे। उन्हे लगता कि इस तरह प्रत्येक आवेदन नामंजूर करने का अर्थ यह है कि उस लडकी को, जो शिक्षा पाना और अच्छा जीवन बिताना चाहती है इस अवसर से वंचित कर दिया जाए। समय बदल रहा था और अधिकाधिक लडकियां अपने घर की संकरी परिधि से निकलकर शिक्षा का लाभ उठाने के लिए आगे आ रही थी। हुजूरपागा मे लडकियो का एक स्कूल तो था महिलाओ के प्रशिक्षण के लिए एक महिला प्रशिक्षण कालेज भी था, लेकिन जितनी कन्याएं इसमे पढ सकती थी पढने की इच्छा रखने वाली लडकियां उससे कही ज्यादा थी। इसके अतिरिक्त बालिकाश्रम की शिक्षा व्यवस्था के प्रति लोगो मे सम्मान था अत उसकी ओर अधिक झुकाव पैदा हो गया था। इस संस्था मे दी जाने वाली शिक्षा न सिर्फ कम खर्चीली थी, बल्कि बहुत से लोगो के ख्याल से अधिक उच्च कोटि की तथा जीवनोपयोगी थी।

प्रोफेसर कर्वे चिंताग्रस्त होकर कई दिनो तक इन परिस्थितियो और तथ्यो पर विचार करते रहे। परिणामस्वरूप उनकी अधिकाधिक दृढ धारणा यह हो गई कि अनाथ बालिकाश्रम से अलग एक संस्था और होनी चाहिए, जिसमे कुमारियो और सधवा स्त्रियो के लिए रहने और खान की व्यवस्था हो। उनकी पढाई के लिए अलग इंतजाम किया जाना जरूरी नहीं था क्योकि आश्रम की ओर से जो स्कूल चल रहा था उसमे उन्हे भरती किया जा सकता था।

31 जनवरी, 1907 को प्रोफेसर कर्वे ने बालिकाश्रम की प्रबन्ध-समिति के सदस्यों के पास एक परिपत्र भेजा। इसमे उन्होने अपने विचारो और प्रस्तावो की विस्तृत व्याख्या की थी। उन्होने इसे स्पष्ट कर दिया था कि यह नया कदम बालिकाश्रम के विकास और प्रगति मे किसी तरह से बाधक

"पूना शहर की नारायण पेठ के एक छोटे-से मकान में, जो लकड़ी पुल से ज्यादा दूर नहीं है, भारत के कम से कम इस क्षेत्र में किया जाने वाला एक विनम्र प्रयास हो रहा है। यह देश के अवश्यम्भावी सामाजिक पुनरुत्थान का प्रारम्भिक चरण है।"

मेजर हंटर स्टीन ने धोंडो केशव कर्वे द्वारा स्थापित महिला विद्यालय का वर्णन इन भविष्यदर्शी शब्दों में किया था। विद्यालय को उस समय शुरू हुए केवल एक साल हुआ था।

4 मार्च, 1907 को, रंगपंचमी के दिन, छः लड़कियों को लेकर इस महिला विद्यालय की स्थापना हुई। डेक्कन एजुकेशन सोसायटी ने भी लकड़ी पुल के पास वाले अपने पुराने लेकिन बड़े से बाड़े का इस्तेमाल करने की इजाजत प्रोफेसर कर्वे को देकर अपनी सौजन्यता और कृपा दिखलाई। छः लड़कियों में से तीन आश्रम से थीं।

कुछ समय पहले प्रोफेसर कर्वे ने एक योजना बनाई थी। योजना का उद्देश्य था बीस साल की उम्र होने तक लड़कियों को अविवाहित रहने के लिए प्रोत्साहित करना। उन्हें अपने एक उदार मित्र का सहयोग और समर्थन भी मिल गया। उन दयालु सज्जन ने पच्चीस रुपये महीने की सहायता देने का वादा किया। उसे वह सात वर्षों तक निभाते रहे। यह योजना 'ब्रह्मचर्य फंड' नाम से प्रख्यात हुई। पच्चीस रुपयों की मासिक सहायता से प्रोफेसर कर्वे आश्रम की तीन लड़कियों की मदद कर पाए। विद्यालय की पहली तीन छात्राएं 'ब्रह्मचर्य फंड' से छात्रवृत्ति पाकर विद्याध्ययन करने लगीं। उस सज्जन की ऐसी कोई शर्त नहीं थी कि 'ब्रह्मचर्य फंड' से वृत्ति पाकर पढ़ने वाली छात्राएं आश्रम की निवासी ही हों तथा उन्होंने सहायता भी प्रोफेसर कर्वे को दी थी आश्रम के व्यवस्था विभाग को नहीं। अतः इस धन को महिला विद्यालय के नए काम में लगाया जाने लगा और उससे वृत्ति पाने वाली तीनों छात्राओं का भी वहीं स्थानांतरित कर दिया गया। बाकी तीन लड़कियां प्रोफेसर कर्वे के दो मित्रों की पुत्रियां थीं जिनका पूर्ण विश्वास था कि प्रोफेसर कर्वे जो कुछ भी करते हैं, ठीक करते हैं।

विद्यालय मे पढाने के लिए अपनी सेवाए अर्पित करने वालों मे प्रोफेसर कर्वे के पूर्वाचार्य श्री वी० एन० सोमण भी थे। राधाबाई की बहन नर्मदाबाई ने भी विद्यालय को अपनी सेवाए पुन अर्पित की। उन्होने रसोई की व्यवस्था और अन्य गृह कार्य की देखभाल की जिम्मेदारी ली।

विद्यालय के पहले वार्षिक विवरण की सूचना म लिखा गया कि महिला विद्यालय एक साहस भरा कदम है। पर सस्थापक को अपने मित्रो की सहायता का भरोसा है और उन्होने अपने तथा अपने मित्रो के प्रयत्नो पर विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि हम कठिनाइयो का मुकाबला कर सकेंगे।

किसी भी नि स्वार्थ भाव से आरम्भ किए गए प्रयास को दयालु पुरुषो की सहानुभूति मिले बिना नही रहती। बम्बई की एक महिला न इस नई सस्था के बारे में सुना। वह जानती थीं कि इसे सहायता चाहिए। उन्होंने अन्न सग्रह किया, जिसे मुष्टि-दान कहा गया। उन्होने घर घर जाकर पर्याप्त मात्रा मे चावल इकट्ठा किया। चावल को बेच कर जो रुपया मिला एव दान म जो थोडी सी नकदी मिली, उसे उन्होने प्रोफेसर कर्वे के पास भेजा। यह राशि सवा सात रुपयो की थी। प्रोफेसर कर्वे ने कृतज्ञतापूर्वक उसे स्वीकार किया। यद्यपि विद्यालय के साधनो मे इससे जो वृद्धि हुई, वह मामूली थी, लेकिन उस महिला की हार्दिक सद्भावना से प्रोफेसर कर्वे को जो प्रसन्नता और प्रेरणा मिली, वह अपरिमित थी।

प्रशसा के साथ ही अच्छे आदमियो तथा अच्छे काम की भी आलोचना और निंदा उसी प्रकार होती है जैसे चुम्बक पत्थर की ओर दाना प्रकार का लोहा खिचा चला आता है चाहे वह साफ चमकता हुआ हो चाहे उसमे जग लगा हुआ हो।

कई लोगो ने प्रोफेसर कर्वे की योजना को समझा और उसकी प्रशसा की। उन्हे लगा कि बाल विवाह को रोकने के लिए इसकी बहुत जरूरत थी। इससे विवाह करने से पहले, उन्हें कुछ उपयोगी कामो मे अपना समय बिताने का अवसर मिलेगा और उनके विवाह परिपक्व अवस्था मे होगे। उन्हें महिला

विद्यालय की स्थापना लड़कियों की शिक्षा के क्षेत्र में कोई गलत किस्म की होड़ नहीं प्रतीत हुई। बल्कि उनका विचार था कि हुजूरपगा के गर्ल्स स्कूल जैसी कई और संस्थाओं की आवश्यकता है और महिला विद्यालय किसी भी तरह उसका प्रतिद्वंद्वी नहीं है।

लेकिन ऐसे भी लोग थे जो महिला विद्यालय को एक दूसरी ही नजर से देखते थे। प्रोफेसर कर्वे के एक मित्र ने, जिनकी उनके साथ थोड़ी सहानुभूति भी थी, एक पत्र में उनको लिखा।

"पूना में जब लड़कियों का एक ऐसा हाई स्कूल है ही जिसमें छात्रावास की भी व्यवस्था है तो उसी शहर में अविवाहित लड़कियों के लिए दूसरे आश्रम को चलाने की जरूरत नहीं थी। यह गर्ल्स हाई स्कूल के साथ होड़ करेगा।"

किंतु यह न तो आवश्यक था, और न उपयोगी कि ऐसा मत रखने वालों के साथ बहस की जाए। कुछ समय बाद न केवल उन सज्जन का मत ही बदला, बल्कि उन्होंने महिला विद्यालय को आर्थिक सहायता भी दी।

एक अन्य सज्जन थे। उनकी खासी आमदनी थी। उनकी छः लड़कियां थीं और पुत्र नहीं था। परिवार बड़ा था, उसका भरण-पोषण तो उनके लिए कठिन नहीं था, पर छहों लड़कियों का विवाह करने के लिए धन कहां से लाते? प्रोफेसर कर्वे के महिला विद्यालय के बारे में सुना तो उनके मन में आया कि अगर मेरे छः लड़के होते तो मैं उन्हें पढ़ाता लिखाता और उनके विवाह के लिए कुछ भी परेशान न होता। तब अपनी लड़कियों को भी शिक्षा का लाभ उठाने का ऐसा ही अवसर क्यों न दूं? वे भी लड़कों ही की तरह आत्म निर्भर हो जाएंगी। अतः उन्होंने निश्चय किया कि अपनी लड़कियों को लड़कों ही की तरह समझूंगा और उनके विवाह की चिंता न करूंगा। फौरन अपनी बड़ी लड़की को उसकी विधवा चाची के साथ बालिकाश्रम में भेजकर अपने निश्चय को कार्यान्वित किया। अगले साल दूसरी पुत्री भेजी और अठारह महीने बाद दो और आईं। एक चाची और आठ भतीजियां—छः नहीं, क्योंकि बाद में दो और पैदा हो गई थीं—सब वहीं आईं और उन्होंने

विद्यालय की शिक्षा का लाभ उठाया। यह शिक्षा भावी जीवन मे उनके लिए इतनी अमूल्य और सहायक सिद्ध हुई कि उनमें से किसी ने भी विवाह को ही नारी-जीवन का एकमात्र लक्ष्य और आकांक्षा की चरम परिणति नहीं माना।

प्रोफेसर कर्वे को हमेशा भिक्षा पात्र लेकर बाहर निकलने की आवश्यकता नही थी। उनकी सहायता के लिए शुभचिंतक, मित्र और प्रशसक बडी सख्या मे आने लगे। जब भी उन्हें प्रशसा का पत्र अथवा नकद सहायता मिलती उनका हृदय कृतज्ञता से भर जाता।

विद्यालय का काम आरम्भ होने के एक महीने बाद एक मित्र मेजर कृष्ण जी विष्णु कुकडे ने विद्यालय के लिए चार सौ रुपए इकट्ठे किए। कुछ महीने बाद उन्होंने दो सौ रुपए और भेजे।

लगभग उन्हीं दिनो उन्हें एक विधवा का पत्र मिला। वह श्रीमती गगा बाई गोखले ने लिखा था—

"आपके महिला विद्यालय का विवरण मैंने 'ज्ञान प्रकाश' मे पढ़ा है। मैंने अपने भतीजे से उसका आखो देखा हाल भी सुना है। वह आपकी सस्था और उसके काम को देख आया है। इस तरह के काम मे सहायता करना अपना मैं कर्तव्य समझती हू। आप जो ब्रह्मचर्य आश्रम चला रहे हैं, वह उस दुर्भाग्य के कारण को मिटाने का प्रयत्न कर रहा है, जिसकी शिकार मैं खुद ही चुकी हू—यानी बाल वैधव्य। यह प्रयास प्रशसनीय है। अत मैं अपने प्रिय पति के नाम से आपके विद्यालय की किसी एक लडकी को पाच रुपए महीने की छात्र वृत्ति देना चाहती हू। मैं इसे 'विश्वनाथ सदाशिव गोखले छात्रवृत्ति' नाम देना चाहती हू। थोडे ही दिना म एक स्थायी निधि दूगी और तब तक साठ रुपयो का वार्षिक अग्रिम अनुदान भेजती रहूगी।"

बम्बई के डा० टी० सी० खाडवाला ने ब्रह्मचर्य फड के लिए दस रुपए महीने का अनुदान भेजा।

सन 1911 मे जब एक भवन बनाने का काम हाथ मे लिया गया जिसमे पच्चीस हजार रुपयो की लागत का अनुमान था तो एन० एम० वाडिया

चैरिटीज की ओर से कुल राशि का एक तिहाई देने का प्रस्ताव आया।

एन० एम० वाडिया चैरिटीज के ट्रस्टियों ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया था, उसमें संस्था का नाम 'महिला विद्यालय, पूना, (बाल विधवा विद्यालय)" लिखा था। चेक आ गया था और उसे महिला विद्यालय के हिसाब में जमा किया जा सकता था। लेकिन प्रोफेसर कर्वे किसी तरह का संदेह नहीं रहने देना चाहते थे। अगर यह दान आश्रम के लिए दिया गया है तो प्रोफेसर कर्वे उस चेक को वापस करके और उसे रद्द करवा कर आश्रम के लिए दूसरा चेक भेजने का अनुरोध करना चाहते थे। अतः वह ट्रस्टियों में से एक, एन० ए० वाडिया, से उनके किरकी स्थित निवास स्थान पर जाकर मिले और इस मामले की सफाई चाही। श्री वाडिया ने बताया कि 'बाल-विधवा विद्यालय' शब्द गलती से जोड़ दिया गया है। चेक मिलने के दो महीनों बाद उसे भुना लिया गया।

सन 1905 में प्रोफेसर गोपालकृष्ण गोखले ने 'सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की। गोखले एलफिंस्टन कालेज में प्रोफेसर कर्वे के समकालीन थे और फर्ग्युसन कालेज में उनके सहयोगी थे। कार्यकर्ताओं के एक दल ने प्रोफेसर गोखले के उदाहरण का अनुसरण किया और उनके आदर्शों को ग्रहण करते हुए देश सेवा का व्रत लिया। प्रोफेसर गोखले उन लोगों में से थे, जिन्होंने सबसे पहले प्रोफेसर कर्वे को विद्यालय की नई जिम्मेदारी उठाने के लिए बधाई दी। एक बैंक का दिवाला निकलने से प्रोफेसर कर्वे की काफी रकम डूबी तो उन्हें प्रोफेसर गोखले की याद आई। गोखले ने उनके नए काम के प्रति काफी रुचि दिखाई थी। इसलिए वह उनके पास सहायता और सलाह के लिए गए। प्रोफेसर गोखले ने फौरन उन्हें सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसायटी के बचत खाते से पांच हजार रुपए कर्ज दे दिए।

प्रोफेसर कर्वे के लिए यह सदा आसान नहीं होता था कि अपने मित्रों और संरक्षकों के प्रति अपनी मनोभावना को ठीक तरह से व्यक्त कर सकें। वह अक्सर उनको याद करते। खास तौर से महिला विद्यालय की 1912 की वार्षिक रिपोर्ट लिखते समय उनको उन कठिनाइयों भरे दिनों की याद आई

जब स्वत लोगो ने उनकी सहायता दी और उसमे उनको कितनी राहत मिली थी।

महिला विद्यालय सन 1911 से पहले केवल छात्रावास के रूप मे था। 1911 के दिसबर मे वह अपनी निजी इमारत म एक सर्वांगीण आवासीय विद्यालय के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह भवन हिंगन मे बालिकाश्रम के पडोस मे बना। इस तरह धोडो केशव कर्वे की दूसरी कल्पना भी साकार हो गई।

धोडो केशव कर्वे अपन सहयोगियो के मन को अपनी बातो से और उससे भी अधिक अपन काम से प्रभावित करते थे। अन्य लोगो की अपेक्षा उनका गहनतम प्रभाव उनकी सानी, पावती प्रठावले न महसूस किया। पर उनमे प्रबल स्वेच्छा और निणयात्मक बुद्धि भी थी। वह अधिकतर उनका प्रयोग करती थी। अन्ना उनके जीवन को एक नया रूप देने के निमित्त बने थे। यदि उनकी सलाह और प्रेरणा न मिली होती तो उन्होंने अपना सारा जीवन देवरख जैसे दूरवर्ती स्थान मे अपने पिता के ही घर पर बिता दिया होता। अपने जीवन मे सम्मान और उनकी सस्था म उसके अनुरूप पद मिलने के लिए वह उनकी कृतज्ञ थी। इससे भी अधिक कृतज्ञता का कारण यह था कि उनके पुत्र नाना को अच्छी शिक्षा मिल रही थी और उसकी बौद्धिक योग्यता के अनुकूल कायक्षेत्र मिला हुआ था। फिर भी वह हर बात म अन्ना की राय नहीं मानती थी। अगर अन्ना की राय उनकी इच्छा और निणय के अनुकूल न होती तो वह अपनी असहमति प्रकट करने मे हिचकिचाती न थी।

बालिकाश्रम के प्रारभिक दिनो मे जब एक विधवा ने अपने केश बढाने का साहसिक प्रयास किया तो पावतीबाई आग बबूला हो गई थी। उन दिनो वह उसे एक पाप कृत्य मानती थी, क्योकि तब तक इस प्रथा को वे धम सम्मत पवित्र आदेश समझती थी। इसके अलावा, उनका विचार था कि उस स्त्री के इस कृत्य का जन मत पर विपरीत प्रभाव पडेगा जो निश्चित रूप से आश्रम के लिए हानिकारक होगा। वह दस वर्षों तक निरतर इस सुधार के खिलाफ अपनी पूरी शक्ति से जूझती रही क्योंकि उन्हें चिंता केवल यह थी

कि इससे कहीं आश्रम को हानि न पहुचे। और उसके विकास मे बाधा न पड़े।

लेकिन धीरे धीरे उनके विचार बदले। ज्यो ज्यो उन्होंने इस विषय पर गहरा चिंतन किया, यह स्पष्ट होता गया कि किसी विधवा को बाल कटवाने के लिए मजबूर करना उचित नही है। तथापि केशांत के लिए क्षौर की प्रथा को पवित्र मानती रही और अगर कभी किसी विधवा ने साधुओ की तरह के वस्त्र पहन कर रहना चाहा तो उसे ऐसा करने से रोकने के किसी भी प्रयत्न का वे विरोध करती रही।

धीरे धीरे उनके विचार और उनका दृष्टिकोण किस प्रकार बदले, पार्वती बाई ने उसके बारे मे अपनी जीवन कथा मे लिखा है

'पूना मे मेरा जीवन एक पुनर्जन्म की तरह था। एक बच्चा जन्म के समय अबोध होता है। लेकिन उसके जीवन का प्रत्येक नया दिन उसके सासारिक ज्ञान और अनुभव को बढाता जाता है। शिक्षा प्राप्त करके मेरा पुनर्जन्म हुआ। उसके बाद मेरे सामने की प्रत्येक वस्तु नई थी और मैंने उसे हृदयगम किया। मेरे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो गया, सभी प्राचीन बातें लुप्त होते होते मेरी चेतना मे पूरी हट गई और उनको स्थानान्तरित कर वहा नूतन उदार विचार समुदाय आ बैठा। फिर मैंने सुधार के इस प्रवाह मे अपने को पूरी तरह बहने नही दिया। तथापि कुछ पुराने विश्वास और रहन सहन के तरीको को मैं कभी न छोड पाई, क्योकि उस हर चीज को जो पुरानी है, मैं अनुपयोगी और निरर्थक नही मानती थी। मैं आज भी कई पुराने विश्वासो और परपराओ को सवश्रेष्ठ मानती हू।

जब से मैं पूना आई, मेरे सामने बराबर अण्णा का प्रत्यक्ष उदाहरण था। उनके उदाहरण ने मुझे व्यक्तिगत स्वाधीनता और समानता के भद्दे विचारों से दूर रहने मे सहायता दी।'

एक व्यक्तिगत कारण और भी था जिसने पार्वतीबाई को प्राचीन प्रथा के अनुसार अपना मुडन कराने और बाल न बढाने तथा इस पुराने रिवाज से जुड़े रहने पर मजबूर किया था। वह खूब अच्छी तरह जानती थी कि मैं

आयी तो आएगी, लेकिन वह देर तक ठहरेगी नहीं—वह आश्रम की प्रतिष्ठा अथवा इसके कार्यों को ज्यादा नुकसान नहीं पहुंचा सकेगी। उन्होंने पार्वतीबाई को राय दी कि वे अपने निर्णय को कार्यान्वित करें।

चालीस वर्ष की आयु में पार्वतीबाई ने अपने अंग से वैधव्य सूचक भिखारी के से वस्त्र उतार डाले। लोग कानाफूसी करते, 'आजकल पार्वती बाई ने केश बढ़ाना क्यों शुरू कर दिया है ?"

कोई बोला "वह इतने दिनों से आश्रम का काम कर रही थीं अब तक उनकी बाहरी वेश भूषा से तो उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। निश्चय ही उन्होंने वेश परिवर्तन का यह विचार आश्रम की वजह से नहीं किया है।"

उसे पलट कर सुनने को मिला, "अरे, तुम समझते नहीं जरूर इसके पीछे कोई और बात है।"

कुछ ढीठ थे, उन्होंने ज्यादा हिम्मत की तो प्रोफेसर कर्वे से ही जाकर पूछा, कर्वे जी 'पार्वतीबाई ने फिर से बाल बढ़ाने क्यों शुरू कर दिए हैं ? क्या इसका कोई व्यक्तिगत कारण है ?"

प्रोफेसर कर्वे ने शांतिपूर्वक उत्तर दिया, मैं तो किसी ऐसे कारण को नहीं जानता। लेकिन अगर होगा तो आपको भी मालूम हो जाएगा।"

कल्पना और स्वप्न

कहते हैं कि जिसके सिर पर ताज होता है उसे कभी चैन नहीं होता। क्या सचमुच ऐसा ही होता है? प्रोफेसर कर्वे के सिर पर तो कोई ताज नहीं था। अगर था भी तो वह काटों का था, लेकिन वे काटे उन्हें परेशान नहीं करते थे।

आश्रम और विद्यालय एक अच्छा काम कर रहे थे, लेकिन उनके संस्थापक का मन बेचैन था। वे कुछ और काम करने के लिए लालायित थे जिससे अधिक लोगों का कल्याण हो सके और जो उनके वर्तमान प्रयास से भी शुभतर हो।

इन संस्थाओं को मजबूत और स्थिर बनाने के लिए उन्होंने कठिन परिश्रम किया और उन्हें उनके लिए धन इकट्ठा करना पड़ता था। वह जानते थे कि केवल आर्थिक सहायता प्राप्त करने से उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। कई वर्षों से उनकी यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि किसी भी अच्छे उद्देश्य की ओर चलने और उसमें प्रगति करने के लिए सशक्त मानवीय सहयोग केवल अपेक्षित ही नहीं बल्कि आवश्यक और अनिवार्य है। वेतन पर काम करने वाले कर्मचारी बहुत मिल जाएंगे और अच्छा पारिश्रमिक दिया जाए तो उनसे कुशलतापूर्वक काम करने की भी आशा की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि कार्य-कौशल एक महत्वपूर्ण उपकरण है, लेकिन उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है निष्ठा। गोखले ने त्याग और निष्ठा के आधार पर ही सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना की थी। ऐसा ही एक अन्य संगठन डेक्कन एजुकेशन सोसायटी थी, जिसके कर्वे स्वयं आजीवन कार्यकर्ता थे। इस संगठन

की स्थापना और इसका विकास उसके संस्थापकों और आजीवन कार्यकर्ताओं की निःस्वार्थ लगन से हुआ था। पूना आने से पहले कई वर्षों तक, प्रोफेसर कर्वे का कैथेड्रल मिशन हाई स्कूल से संबंध रहा था और वह जानते थे कि उसे भी ऐसे ही व्यक्ति चला रहे हैं जिनका सर्वोच्च उद्देश्य सेवा है। प्रोफेसर कर्वे के मन में केवल इन संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के प्रति ही नहीं बल्कि उन आदर्शों और सिद्धांतों के लिए भी बड़ा आदर था जिनकी पूर्ति के लिए उक्त संगठनों और संस्थाओं की स्थापना हुई थी। उन्होंने इन संस्थाओं में जो कुछ देखा, उस पर वह विचार करते रहे। उन्हें ऐसा लगा कि उन में सभी कार्यकर्ता जिस निष्ठा से अपनी संस्था की प्रगति के लिए श्रम करते थे, वह किसी प्रकार उस भक्ति से भिन्न नहीं जिससे संयुक्त होकर एक भक्त अपने भगवान की आराधना करता है।

उन्नीसवीं शती में नवभारत के निर्माण के प्रयत्न किए जा रहे थे। उस समय ईसाई मिशन भी काफी प्रभावोत्पादक ढंग से काम करते थे। प्रोफेसर कर्वे के मन में उनके और उनके काम के प्रति बड़ा आदर था। यद्यपि इन मिशनरियों का मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था, फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में उनका काम और चिकित्सा की सुविधाओं को उपलब्ध कराने का उन लोगों का प्रयास प्रोफेसर कर्वे की दृष्टि में भारतीयों के लिए भी एक आज्वल्यमान उदाहरण था।

राष्ट्र निर्माण के लिए शिक्षा प्रसार एक महत्वपूर्ण कार्य था जिसमें सैकड़ों कार्यकर्ताओं की आवश्यकता थी। प्रोफेसर कर्वे चाहते थे कि भारतीय कार्यकर्ता मानव की सेवा को ईश्वर की ही सेवा समझें। वे समझते थे कि भारतीयों को यह मान्यता परोक्ष जैसी लगती है कि ईश्वर का प्रिय बनने की सर्वोत्तम विधि दूसरों की सेवा करना है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले स्त्री पुरुष जब तक इस प्रकार की भक्तिमयी चेतना से अनुप्राणित नहीं होते और जब तक वे काम को पूजा समझ कर नहीं करते कोई स्थाई प्रगति संभव नहीं हो सकती। इन्हीं विचारों से प्रोफेसर कर्वे का मन बेचैन और हृदय आकुल रहता था।

उनके ये विचार ऐसे नही थे जिनको सर्वथा नया या उनके मन मे थोडे ही समय पूर्व आए हुए कहा जा सकता था। हिंदू विधवा आश्रम एसासिएशन का घोषणा-पत्र 18 सितम्बर, 1898 को पजीबद्ध किया गया था। उसमे उल्लिखित अनाथ बालिकाश्रम के उद्देश्यो मे एक उद्देश्य निम्नलिखित था—

"हिन्दुओ मे दान और दया की प्रतिमूर्ति बहनो के समुदाय का निर्माण और उनका प्रतिपालन करना।"

प्रोफेसर कर्वे की सबसे अधिक प्रिय आकाक्षा यह थी कि ऐसे कार्यकर्ताओ के एक दल को सगठित करें जिनके जीवन का लक्ष्य ही नि स्वार्थ सेवा हो। अपनी इस आकाक्षा को उन्होने 1902 मे जारी किए गए एक वक्तव्य मे लोगो के सामने रखा था। उसमे इस सम्बन्ध म अपने सुस्पष्ट विचार अभि व्यक्त किये थे

'यद्यपि आश्रम की स्थापना इस उद्देश्य से की गई है कि विधवाए शिक्षा पा सकें तथा उनको अपने जीवन और चरित्र का निर्माण करने के लिए एक नैतिक आधार प्राप्त हो सके, फिर भी यही एक मात्र उद्देश्य नही है। जिस अभिप्राय से आश्रम की स्थापना हुई थी और जिस भावना से वह चलाया जा रहा है वह तभी पूरा होगा जब उसमें शिक्षा पाकर और उसमे काम करके नि स्वार्थ भाव से समाज सुधार को ही जीवन का लक्ष्य मान कर मानव की सेवा करते हुए ससार यात्रा करने वालो का एक वग पैदा हो सकेगा।"

सामाजिक काय को वह ऐसा ही आध्यात्मिक रूप देना चाहते थे, जैसा गोखले राजनीतिक काय को दे रहे थे।

मिशन' शब्द की ध्वनि और अभिप्राय अग्रेजी भाषा मे बहुत व्यापक है। उसके इस अर्थ वैभव के कारण इस शब्द से वह विशेष आकृष्ट हुए। वह सस्कृत या मराठी मे वैसा ही एक शब्द ढूढ रहे थे। काफी सोचने के बाद उन्हें 'मठ' शब्द सूझा। मिशन' की तरह इसमे भी एक ऐसी सस्था का भाव प्रतिध्वनित होता है जिसकी स्थापना सेवा के उद्देश्य से की गई हो।

भगवदगीता की शिक्षा का सार है निष्काम कर्म (फल की इच्छा रखे बिना काय करना)। किसी प्रकार की प्राप्ति अथवा लाभ की आशा से की

जाने वाली कोई भी सेवा सच्ची सेवा नहीं है। अत मठ की दृढ नींव होगी उसका आधारभूत सिद्धांत, निष्काम कर्म अथवा स्वार्थ रहित कार्य। इन वर्षों की अविरल मानसिक तपस्या के बाद प्रोफेसर कर्वे ने निर्लिप्त कार्यकर्ताओं का एक वर्ग स्थापित करने का निश्चय किया। उन्होंने उसका नाम निष्काम कर्म मठ रख दिया।

अपनी आयु के पचास वर्ष पूरे करने के कुछ महीनों बाद, यानी 4 नवम्बर 1908 को, प्रोफेसर कर्वे तथा दो अन्य व्यक्ति निष्काम-कर्म मठ का व्रत लेने के लिए बम्बई के सेवा सदन में एकत्रित हुए। उन्होंने संकल्प किया कि

"जिसे मैं अद्यावधि अपनी सम्पत्ति मानता था उस सब पर से अपना स्वत्व और अधिकार छोड़ता हूं।"

"इस क्षण से मैं सर्वथा मठ को आत्म-समर्पित हूं।"

"मेरे और मेरे परिवार के भरण-पोषण के लिए अब से मठ जो कुछ देगा, उसे मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करूंगा।"

उस समय प्रोफेसर कर्वे का साथ देने वाले दो व्यक्तियों में से एक कालेज के छात्र एन० एम० अथावले थे और दूसरी थी श्रीमती मथुराबाई उचगावकर। वह विधवा और उस समय छात्रा थी। उस स्त्री वर्ग का—'इण्डियन लेडीज मिशन' नाम रखा गया था।

इस प्रकार निष्काम कर्म मठ की नींव तो रख दी गई, लेकिन वास्तविक काम अभी शुरू नहीं हुआ। कुछ समय तक प्रोफेसर कर्वे ने केवल यह किया कि जो ज्योति उन्होंने जलाई थी, उसी दीप शिखा को आत्म विश्वास से प्रदीप्त रखा।

उन्होंने आश्रम की कुछ विधवा अंतेवासिनियों को चुना और उनको अपना दृष्टिकोण बताया कि निष्काम कर्म मठ का आदर्श क्या है उसके कार्यकलाप क्या होंगे एवं वह किस तरह काम करना चाहते थे। इन बातों को करते समय वे सब संध्या के शांत वातावरण में, पास ही की एक पहाड़ी के शिखर पर बैठे थे। जब अन्ना मठ के आदर्शों के बारे में बता रहे थे, तब लड़कियां एक

प्रकार की प्रेरणा का अनुभव कर रही थी। जो कुछ उन्हें बताया, उसमे से बहुत कुछ तो वे समझ भी न पाईं, फिर भी वे अनुप्राणित हो उठी। उनके लिए इतना ही काफी था कि अन्ना ने मठ का काम आरम्भ किया था। वह उनसे उसमे शामिल होने को कह रहे थे। उन्होंने पुकार सुनी और निष्काम-कर्म मठ की कार्यकर्त्रियों के रूप मे अपना जीवन समर्पित करने का निश्चय कर लिया।

अब इस दल मे चार पुरुषों के साथ चौदह स्त्रियां भी हो गयी। उनमे बालाजी विनायक कोलाटकर और उनकी पत्नी तथा महादेव केशव गाडगिल और उनकी पत्नी भी थे।

6 दिसम्बर, 1910 को मठ के कार्यकर्ताओं की पहली बैठक हुई। श्री और श्रीमती कोलाटकर तथा श्री और श्रीमती गाडगिल ये चारों सर्वप्रथम कार्यकर्ता बने।

पार्वतीबाई के पुत्र एन० एम० अथावले, शीघ्र ही उन लोगों के साथ मिल कर काम करने लगे। वह उन दो व्यक्तियों मे थे, जिन्होंने सन् 1908 मे प्रोफेसर कर्वे के साथ मठ मे काम करने का व्रत लिया था। जब वह आठ वर्ष के थे अपनी शिक्षा के लिए पूना आए थे। तभी से अन्ना उन पर स्नेह करते और उनकी देखरेख करते थे। बचपन से ही नाना अथावले ने अन्ना के आदर्शमय जीवन और कार्यों मे सेवा के प्रति लगन को देखा और उन्होंने उसे हृदयगम कर लिया। मठ में प्रतिज्ञा सकल्प करते समय यद्यपि उनकी कल्पना मे भी मठ के आदर्शों और कार्यक्रमों का सपूर्ण और स्पष्ट चित्र नहीं था, लेकिन इतना वह जानते थे कि यह विचार अच्छा है।

श्रीमती देवधर और श्रीमती नामजोशी ने उनके कायकलाप की इस नयी धारा को पसद नहीं किया। ये दोनों उन तीन महिलाओं मे से थी, जो प्रोफेसर कर्वे द्वारा विधवा आश्रम खोले जाने के तुरत बाद उसमे शामिल हुई थी। जब महिला विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव सामने आया था, तब भी इन दोनों ने उसका विरोध किया था। अब उन्हे ऐसा लगा कि प्रोफेसर कर्वे अपनी अभिप्रेरणा से विधवा आश्रम की कुछ अतेवासिनियों को मठ म शामिल

होने के लिए कहवा कर आश्रम को हानि पहुचा रह हैं। जब मठ ने काम करना शुरू किया तो उनकी अप्रसन्नता, रोष और विरोध बढ़ गये।

प्रोफेसर कर्वे मठ के लिए केवल महिला कार्यकत्रिया या सेविकाओ को चाहते थे। लेकिन कार्यकत्रियो के रूप मे तत्काल महिलाओ को भरती करना सभव नही था। चूकि उस समय श्री गाडगिल और श्री कोलाटकर विधवा आश्रम मे अध्यापक के रूप म काम कर हो रहे थे, इस कारण उन्ह काय कर्ताओ के रूप मे मठ मे भरती होने की स्वीकृति दी गई।

अपने लक्ष्य की सम्पूर्ति के लिये मठ के सदस्यो का प्रस्तुत काय विधवा आश्रम और महिला विद्यालय के लिए कायकर्ताओ को प्रशिक्षित करना था। श्री अथावले और आठ कायकत्रिया अभी पढ ही रही थी। अपनी पढाई पूरी करने के तुरत बाद उन्ह मठ की सेवा म लग जाना था।

प्रोफसर कर्वे न जब से अपनी मठ की कल्पना को साकार बनाया था, तभी स वह उन सभी लोगो मे जो स्वेच्छा से इसमे सम्मिलित हुए थे ऐसा सस्कार बनाने का प्रयास कर रहे थे कि वे मठ की सदस्यता को एक महान और पवित्र जिम्मेदारी समझें। उनका कहना था कि जब तक वे मितव्ययी और सादा जीवन बिताने क लिए तैयार नही होगे, मठ का और उसके द्वारा समाज की वास्तविक सेवा करना उनके लिए सभव न होगा। उन्होन बडी सावधानी और दूरदर्शिता से मठ का सविधान तयार किया।

मठ के कायकर्ता के लिए विहित मितव्ययिता और सादगी के जीवन की एक विशिष्टता यह थी कि कायकर्ता को भिक्षा से प्राप्त भोजन पर ही सतोष करना था। दो महिला स्वय सेविकाए चावल तथा अन्य खाद्य पदार्थों के लिए भिक्षाटन करने को तैयार हुइ। वे सप्ताह मे एक बार भिक्षा के लिए निकलती थी। श्रीमती गोपिकाबाई लेले और श्रीमती राधाबाई मालवकर बडी तत्परता से यह काम करती थी। फिर आनदी बाई कर्वे भी उनके साथ हो गई।

सचमुच, निष्काम कर्म-मठ का आदर्श ऊचा था। प्रोफसर कर्वे के कुछ आलोचक तो इसे अव्यावहारिक भी कहते थे लेकिन बात ऐसी नही थी। प्रोफसर गोखले को अपनी सर्वेंटस आफ इडिया सोसायटी के लिए निष्ठावान

कार्यकर्ताओं का सक्रिय सहयोग और उनकी आजीवन सेवाएं प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। ईसाई मिशनों को भी अपने बहुविधि कार्यकलापों को चलाने के लिए सैकड़ों कार्यकर्ता मिले। लेकिन प्रोफेसर कर्वे का निष्काम कर्म-मठ प्रारंभिक तैयारियों से आगे नहीं बढ़ सका। उसका संविधान तैयार हो गया और संस्थापक सदस्य उत्सुकतापूर्वक सही ढंग से स्वयंसेवकों के आने और मठ में शामिल होने की प्रतीक्षा करते रहे। काफी लंबे अर्से तक उन्हें केवल अपने ही उत्साह को बनाए रखकर संतुष्ट रहना पड़ा। शायद प्रोफेसर कर्वे मठ के लिए कोई नियमित कार्यक्रम भी नहीं बना पाये। वास्तव में मठ के कार्यकर्ताओं से आशा की जाती थी कि वे आश्रम और विद्यालय का काम अपने हाथ में लें। पर प्रश्न यह है कि यदि यही बात थी और मठ से ऐसी आशा की जाती थी कि वह आश्रम के लिए कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करे तो उसके पास उनके प्रशिक्षण का कौन-सा कार्यक्रम था? बल्कि जहां तक मठ के कार्य का सम्बन्ध था स्वयं प्रोफेसर कर्वे को अपनी क्षमता पर भी संदेह था। मठ कोई ठोस परिणाम प्रस्तुत कर पाता, उससे पहले ही उसके संस्थापकों को आलोचनाओं के भयंकर तूफान का सामना करना पड़ा और आखिर मठ को आश्रम के साथ मिल जाने के लिए विवश होना पड़ा।

निष्काम-कर्म मठ की स्थापना प्रोफेसर कर्वे के वास्तविक उद्देश्य को ज्यादातर लोग समझ नहीं सके। यहां तक कि जो लोग आश्रम के काम में वास्तव में लगे हुए थे, उन्होंने भी मठ की उपयोगिता के बारे में गंभीर सन्देह व्यक्त किया था। प्रोफेसर कर्वे के सबसे कटु आलोचक उनमें ही थे। अगस्त 1913 में बंबई के 'इंदु प्रकाश' ने इस विषय पर कई लेख छापे और जो लोग मठ के संविधान में प्रशंसा के योग्य कोई बात नहीं देख पाते थे, ऐसे छिद्रान्वेषकों के विचारों को विस्तारपूर्वक प्रकाशित किया।

पहला लेख "एक विश्वासी और आदरणीय मित्र" का लिखा हुआ था, जिनकी "सूचना, सूझबूझ और परख को" इंदु प्रकाश के संपादक "निर्विवाद रूप से भरोसा करते थे" और 'इस कार्य के लिए उनका निर्लिप्त मैत्री का भाव है", ऐसा संपादक विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। 'जटिल समस्या' शीर्षक से इस लेख में लेखक ने लिखा था—

उन्होंने इस तरह की अन्य संस्थाओं का उल्लेख करते हुए कहा कि पाश्चात्य देशों में और भारतीय संस्थाओं के कार्यक्रमों में भी कई अनपेक्षित कुपरिणाम देखे गए हैं, अतः लेखक ने गंभीर चेतावनी दी थी—

'अव्यावहारिक अफलातूनी आदर्श व्यवस्थाओं के लिए इस लोक में स्थान नहीं है। उनसे सदा कदा जो कलंक, लोकापवाद और अपयश रूपी परिणाम पैदा होते हैं उनसे बदनामी इतनी ज्यादा होती है कि बुद्धिमान लोग इनके प्रति सदा सतर्क रहेंगे। इस तरह के मठों और कन्वेंटों में ऐसे प्रलोभनों की काफी गुंजाइश रहती है।"

लेखक ने कुछ सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में यह टिप्पणी की—

"जब तक प्रोफेसर कर्वे वहां हैं और सब पर अपनी कड़ी आंख रखकर लोगों को अपने नियंत्रण में रखते हैं, तब तक शायद सब कुछ ठीक ठाक चलता रहे। लेकिन यह भी अकाट्य सत्य कथन है कि इस व्यवस्था में दुर्व्यवहार, भ्रष्टाचार, पतन पाप और पाखंड का भी भारी खतरा है और अगर कभी ऐसा हुआ तो उससे न केवल मठ को बल्कि समाज-सुधार के सारे उद्देश्य को गहरी चोट पहुंचेगी। इस दायित्व को निभाने में खतरे बड़े हैं, दांव पर लगी हुई बाजी भारी है, जबकि सफलता का आश्वासन अपर्याप्त और क्षीण है।"

सन 1912 में मठ की सूची में सेवकों और सेविकाओं के रूप में नौ व्यक्तियों के नाम लिखे गए। उनमें चार इक्कीस वर्ष से अधिक परन्तु पच्चीस साल से कम आयु की विधवाएं थीं। यह भी कहा गया कि छह लड़कियों ने मठ के नियमों की प्रतिज्ञा ली है और वे नवाभ्यासियों के रूप में प्रशिक्षण ले रही हैं।

ऐसा सुझाव किसी ने नहीं दिया था कि मठ बंद कर दिया जाए। सिर्फ यह कहा गया था कि जो लोग उसके सेवक या सेविका के रूप में भरती किए जाएं उनकी उम्र तीस वर्ष से अधिक होनी चाहिए। यह सलाह भी दी गई थी कि उस समय तक जब तक कि मठ का कोई सेवक या सेविका आश्रम अथवा विद्यालय में काम करे, आश्रम अथवा विद्यालय का कोई अंतेवासी या

इन दोनों संस्थाओं में काम करने वाला कोई अन्य व्यक्ति तब तक सेवक या सेविका के रूप में मठ में शामिल नहीं किया जाए, जब तक इन संस्थाओं से उसका संबंध छूटे दो वर्ष न बीत जाएं।

उनके इस नए प्रयोग के विरोध में जो कुछ लिखा या कहा जा रहा था उसे प्रोफेसर कर्वे न टूटते दिल के साथ पढ़ा और सुना। उनका आदर्श ऊंचा और पवित्र था और उस पर छींटाकशी नहीं हो सकती थी। इतने ऊंचे आदर्श की कल्पना करना कोई मामूली बात नहीं थी। उसे करोड़ों में एक व्यक्ति कर पाया था। यह एक विलक्षण दृष्टि थी जिसके बल पर वह एक व्यक्ति इस नाम और रूप देने के लिए आगे बढ़ा था। उनका कड़े से कड़ा विरोधी भी उन की भावना पर स्वार्थपरता का दोषारोपण नहीं कर सकता था। पत्रों में छपने वाली आलोचनाओं और जहां तहां होने वाले वाद विवादों में भी द्वेष की गंध नहीं थी। जैसा कि एक "विश्वासी और आदरणीय मित्र" ने 'इंदु प्रकाश' में लिखते हुए कहा था, कि उनके लेख में उस मठ के "उद्देश्य से सहानुभूति रखने वाले ऐसे बहुत-से विश्वस्त हितैषियों के मत का समावेश था, जिनसे परामर्श करने में लेखक ने खास सावधानी बरती थी।"

प्रोफेसर कर्वे तर्कों की संगति को समझते थे एवं अपनी गलतियों को सुधारने के लिए तैयार रहते थे। उनके लिए यह असम्भव था कि खतरों से सावधान करने वाली उन सहानुभूतिपूर्ण बातों की उपेक्षा कर देते, जो कई ओर से उनके कानों में पड़ती थीं। उन्हें अब इसका अधिकाधिक स्पष्ट आभास होता गया कि जिस उद्देश्य से उन्होंने मठ की स्थापना की थी वह उनके अधिकांश मित्रों को मुग्ध करने और हितैषियों की कल्पना को आकर्षित करने या उनकी प्रशंसा को जीतने में असफल रहा है। जिन लोगों ने भी आगे बढ़कर मठ नियमों के अनुसार व्रती बनने की प्रतिज्ञा की थी, वह इसलिए नहीं की थी कि वे उसके आदर्शों को भलीभांति समझ गए थे अथवा उनका अनुमोदन करते थे, बल्कि इसलिए कि उनके आदरणीय अन्ना ने उस मठ की स्थापना की थी। नाना अथावले, वारूबाई खेवडे, सीताबाई अग्निगेरी, सीताबाई जोशी गंगूबाई तावोले, बानुभाई आहो—ये सभी उस समय मठ में सम्मिलित हुए थे जब वे छात्र थे। किन्तु बाद में भी उनको इसका कभी

पछतावा नहीं हुआ। ये सभी नाम विधवा भवन (विडोज होम) एसोसिएशन के (जो आश्रम, विद्यालय और मठ को मिला देने के बाद बना) आजीवन कार्यकर्ताओं में देखे जा सकते हैं।

प्रोफेसर कर्वे के मन पर इन सारी बातों का क्या प्रभाव पड़ रहा था, इसका कारण साक्ष्य नीचे लिखे शब्दों से मिलता है। यह अंश मठ के प्रथम वार्षिक विवरण का अंतिम अनुच्छेद है। यह विवरण सन 1912 की जुलाई में प्रस्तुत किया गया था।

'मठ की नींव बड़ी नम्रता से रखी गई है। अभी यह अज्ञात भविष्य के अन्तराल में छिपा हुआ है जिसे समय बताएगा कि कालान्तर में इस नींव पर एक सुन्दर इमारत खड़ी होगी या इसकी एक एक शिला गिरकर जमीन पर बिखरेगी। ऐसे शुभ कार्यों की निर्विघ्न परिसमाप्ति पर्यन्त वृद्धि और विकास के लिए केवल धन का त्याग ही काफी नहीं होता। उससे भी अधिक अनिवार्य है घमंड और असहनशीलता जैसी भावनाओं का त्याग, जो वास्तव में उसके प्रधान शत्रु हैं। ऐसी ही भावनाओं के कारण अनेक संस्थाएं नष्ट हो चुकी हैं, उनके उदाहरणों की कमी नहीं है।"

अपने चरित्र की नैसर्गिक विनम्रता प्रोफेसर कर्वे का मुख्य गुण था। उसी के सहारे वह अपने अत्यन्त प्रिय काम को आलोचना के पंक और गलतफहमी की दलदल से निकालने का उपाय सोचने लगे। वह आश्रम और विद्यालय को मठ में मिलाने पर भी पुनः विचार करने लगे। इसमें यद्यपि मठ का आदर्शों से अवस्खलन होता था, पर इसी सम्मिलित रूप में ही उन्हें प्रेरणा का स्रोत दिख रहा था।

उन्होंने यह योजना आश्रम के व्यवस्थापकों के सामने रखी जिन्होंने अब तक एक सोसायटी बना ली थी। उन व्यवस्थापकों ने आश्रम के संविधान में थोड़ा-बहुत हेर फेर करके प्रसन्नतापूर्वक उस योजना को स्वीकार कर लिया। यह हेर फेर विद्यालय और मठ के उद्देश्यों एवं कार्य-कलापों को संग्रह करने की दृष्टि से किया गया था।

प्रोफेसर कर्वे और उनके सहयोगियों के कष्टों और विपत्तियों का इस

घटना से सुखद अंत हो गया। प्रोफेसर कर्वे ने उसका स्वागत किया। यह उनकी स्वर्ण परीक्षा थी, जिसमे आग से तपकर कांति आती है। कर्वे एक महर्षि थे और आने वाले वर्षों मे वह इसी नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उन्होने इस घटना को 'त्रिवेणी संगम' नाम देना उपयुक्त समझा। यही नाम प्रयाग मे उस जगह का भी है जहा स्नान करने के लिए जाने वाले असंख्य तीर्थ यात्री जानते है कि गंगा यमुना और सरस्वती का समागम होता है।

सन 1912 मे निष्काम कर्म मठ की स्थापना और उसके उद्देश्य तथा आदर्शों को लेकर जो आलोचनाए हुई, उनसे संस्थापक का दिल भर गया था। उनके मन मे इसकी गहरी पीडा थी कि उनके विचारो और प्रयत्नो को न तो ठीक प्रकार से समझा ही गया और न उनका सही मूल्यांकन किया गया। वह अन्य चिंताजनक विचारो से भी प्राय उद्विग्न रहते थे। पर फिर भी वह अपना काम और दैनिक चर्या करते रहे और लोग जो उनसे थोडी-बहुत सहायता की अपेक्षा करते उसे वह देते रहे। उस समय वह बयालीस वर्ष की एक छात्रा को अगरेजी की प्रारम्भिक पुस्तक पढा रहे थे। वह छात्रा थी पार्वती बाई अथावले। सन 1904 से पार्वतीबाई नियमपूर्वक साल मे एक या दो बार धन सग्रह के लिए परिभ्रमण करती रही। अगरेजी न जानने के कारण इस काम में उनको बडी कठिनाई होती थी। कभी कभी वह गलत स्टेशन पर भी उतर जाती, क्योकि वहा एक तख्ती पर स्टेशन का नाम अगरेजी मे लिखा होता था जिसे वह पढ नही पाती थी। वह कई ऐसे लोगो से भी मिलती थी जो मराठी नहीं जानते थे। तब उनको अपने आने का उद्देश्य समझाना भी सम्भव नही होता था। एक या दो बार पहले भी उन्होने अगरेजी सीखनी शुरू की थी, लेकिन उसके लिए समय न निकाल सकने के कारण उस प्रयास को बन्द करना पडा था। अब उन्हे विश्वास हो गया था कि अगरेजी का काम चलाऊ ज्ञान अत्यन्त उपादेय है। ऐसी परिस्थिति मे वे किस की मदद लेती? आश्रम के अध्यापको या कार्यकर्ताओ मे ऐसा कोई न था, जो उनके लिए समय निकाल सकें। लेकिन वह जानती थी कि अपने तमाम कार्य कलापो और परेशानियो के बीच अन्ना उन्हे यथेष्ट समय अवश्य देंगे। जब कभी वह उनके पास जाती, वह सब काम छोड देते और

उन्हे अंग्रेजी के नए शब्द, वाक्य खंड और वाक्य रचना समझाते । सन 1914 मे ऐसे ही एक अवसर पर दीवाली की पूर्व संध्या (धन त्रयोदशी) को प्रोफेसर कर्वे अपनी आत्मकथा का एक परिच्छेद लिखने मे व्यस्त थे जिसमे मुरुद में बीते उनके बचपन का प्रसंग था । रात के लगभग आठ बजे थे । पार्वती बाई आकर उनके पास खड़ी हो गई ।

उन्होने पूछा, 'क्या मुझे पढ़ाने के लिए आपके पास थोडा समय है ?"

अन्ना ने कहा, "अवश्य । बैठो और अपनी पुस्तक खोलो ।"

उन्होने वे पन्ने अपने सामने से हटा दिए जिन पर वह कुछ लिख रहे थे और तुरन्त छात्रा को पढ़ाने म तल्लीन हो गए ।

इन्ही दिनो उनका ध्यान न्यू इगलिश स्कूल एसोसिएशन के छात्र फड का हिसाब ठीक करन मे भी लगा हुआ था । पन्द्रह साल पहले उन्होने ही इसकी स्थापना की थी । सन 1896 मे अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना के अनन्तर वह अपने को इसका अपराधी समझ रहे थे कि डेकन एजुकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्य के नाते उसके प्रति मैं अपना कर्तव्य समुचित रूप से नही निभा पा रहा हूँ । यद्यपि सोसायटी के सदस्य और उसके व्यवस्थापक उनके काम से पूरी तरह सन्तुष्ट थे, वह स्वय अपने उस काम से सन्तुष्ट नही थे, जितना वह फर्गुसन कालेज अथवा न्यू इगलिश स्कूल म कर पाते थे । वह अपने अन्दर एक तीव्र अभिलाषा का अनुभव कर रहे थे कि अपने विषयो को अच्छी तरह पढाने के अलावा वहा कुछ और भी सेवा करनी चाहिए । उनको सदा यह स्मरण रहता था कि जो कुछ भी मान्यता उन्हे डेकन एजुकेशन सोसायटी के सदस्य और कार्यकर्ता के नाते प्राप्त हुई थी उसी के कारण उन्हे अपनी अन्य योजनाओं म सफलता मिली । उन्हे लगा कि यदि मैं डकन एजुकेशन सोसायटी के काम को आगे बढाने की दिशा मे कोई काम नही करता (चाहे वह कितना भी नगण्य क्यो न हो) तो अकृतज्ञता का दोषी हूगा ।

इस आत्म पर्यालोचन से एक मार्ग सूझा । उन्होने न्यू इगलिश स्कूल के भूत-पूर्व विद्यार्थियो की एक सभा आयोजित करके न्यू इगलिश स्कूल एसोसिएशन

की नींव डाली। यह सुझाव भी दिया गया कि स्कूल के सभी पुराने विद्यार्थियों से एसोसिएशन का सदस्य बनने को कहा जाए और उनसे अनुरोध किया जाए कि वे प्रतिवर्ष अपनी आमदनी में से एक महीने की आय इस एसोसिएशन की नव स्थापित निधि में दें। प्रोफेसर कर्वे के दिमाग में इस निधि के लिए एक महत्वाकांक्षी योजना थी। निश्चय किया गया कि एसोसिएशन एक लाख रुपया इकट्ठा करके न्यू इंगलिश स्कूल को दे दे। यद्यपि प्रोफेसर कर्वे की देखरेख में काम बड़े अच्छे ढंग से शुरू हुआ, लेकिन यह सम्भव न था कि वह अपनी योजना और इच्छाओं के अनुसार उसका स्वयं संगठन करें और उसे चलावें। सन 1905 के अंत में कुल एकत्रित राशि 1484.77 रुपये थी। उन्होंने स्वयं ही अपनी कमी और भूल चूक का लेखा-जोखा किया और किसी का सहयोग अथवा किसी से चंदा लिए बिना स्वयं जो कुछ कर सकते थे उसे करने का संकल्प किया। एक जुलाई, 1906 से वह अपनी आमदनी में से प्रतिमास दस रुपये उस निधि में देते रहे। उनके स्कूल के लड़के मैट्रिकुलेशन में उत्तीर्ण होते तो उनके विद्यालय को छोड़ने से पहले उन्हें इकट्ठा करके यह उनसे बातें करते। जब वह सोसायटी से नवम्बर, 1910 से दो साल की छुट्टी लेकर आश्रम में काम करने गए तो सोसायटी से थोड़ा बहुत वेतन पाते थे। इस अवधि में उन्हें डेकन एजुकेशन सोसायटी से जो भी वेतन मिलता उसे वह फण्ड में दे देते थे। उन्होंने आठ महीने तक ऐसा किया।

अप्रैल, 1912 में उन्होंने डेकन एजुकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्यता के बीस वर्ष की अवधि पूरी कर ली। अब वह अवकाश ग्रहण करके पेंशन पाने के हकदार थे। अभी अवकाश ग्रहण करने से पहले उन्होंने सोसायटी को उस निधि को उसी को सौंप देने का निश्चय किया ही था कि उनसे और दो वर्षों तक कालेज में गणित के प्राध्यापक बने रहने को कहा गया। सन् 1914 के अंत में, जब उन्होंने अवकाश ग्रहण किया तो उस निधि में संचित राशि तीन हजार रुपयों से कुछ अधिक थी। उन्होंने फर्गुसन और डेकन एजुकेशन सोसायटी से विदा लेते समय तमाम कागजात सहित वह राशि सोसायटी के मंत्री को सौंप दी।

कालेज की निष्ठापूर्वक बीस से अधिक वर्षों तक सेवा करके उससे

अश्रुसिक्त विदा लेने के पहले ही उस सद्गृहस्थ ने अपने को परिवार की जिम्मेदारियों और चिंताओं से मुक्त कर लिया था। अपने जीवन के उस महत्वपूर्ण दिन से, जब सन 1908 में उन्होंने निष्काम कर्म मठ के व्रत की पवित्र प्रतिज्ञा ली उन्होंने अपनी सारी आमदनी मठ को दान कर दी। जितना धन उनके परिवार के भरण पोषण के लिए नितान्त आवश्यक था वह उससे एक पाई भी ज्यादा नहीं लेते थे। उस दिन से उनके पास कुछ भी नहीं बचता था। किन्तु वास्तविक व्यवहार तो उन्हें उसी अपने दिए हुए धन से ही चलाना पड़ता था जो वह स्वयं मठ से पाते थे पर उसमें विशेषता यह थी कि उनकी अधिकार और संग्रह की प्रवृत्ति जाती रही और वह निश्चिन्त हो गए।

पति ने तो परिवार की देखभाल की जिम्मेदारी से जरूर छुटकारा पा लिया, लेकिन पत्नी भूल न सकी, उससे अलग हो जाना सम्भव नहीं था। अब तक बाया ने अपने ही कन्धों को सशक्त और विशाल बना कर एक पति और तीन पुत्रों का भार वहन करने की क्षमता उत्पन्न कर ली थी।

अपने संस्मरणों में बाया ने लिखा, 'श्री कर्वे ने कभी प्रचुर धन नहीं कमाया और जो कुछ कमाते थे, उसे अपने परिवार की अपेक्षा दूसरों पर और अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं पर खर्च करना अधिक पसंद करते थे। उनकी इस प्रवृत्ति ने मेरे लिए गृहस्थी चलाना बड़ा मुश्किल हो गया था। मैंने साहस पूर्वक निश्चय किया कि बच्चों के अच्छे प्रकार के पालन पोषण में कोई कमी नहीं रहने दूंगी। किसी नौकर की सहायता न लेकर मैं स्वयं ही घर का सारा काम काज कर लेती थी। दाई का काम करने की शिक्षा पा चुकने के कारण मैं थोड़ा बहुत उससे भी कमा लेती थी। एक बार कर्वे जी एक लड़की को मेरे घर पर रहने के लिए ले आए। वह अमीर परिवार की थी। उस अल्पवयस्क की सम्पत्ति की देखरेख के लिए तीन ट्रस्टी नियुक्त किए गए थे, उनमें एक कर्वे जी भी थे। जब अन्य दोनों ने ट्रस्टी बनने से इनकार कर दिया तो कर्वे जी अकेले ही ट्रस्टी रह गए। वह लड़की मेरे घर आकर मेरी देखरेख में रही, इससे मुझे प्रसन्नता ही हुई—इसका विशेष कारण यह था

प्रोफेसर कर्वे ने अपने सामने सदा वानप्रस्थ का प्राचीन आदर्श रखा था। वे हिन्दू परम्परा के अनुसार एक आयु-विशेष के उपरान्त गृहस्थ की सम्पूर्ण सुख-सुविधा और चिन्ता का त्याग करके रहा करते थे। उन्हें वानप्रस्थी जीवन-यापन करने में कोई दिक्कत नहीं थी क्योंकि गृहस्थी के रूप में भी उनका जीवन गृहस्थ से अधिक वानप्रस्थी का सा ही था। उस प्रकार के जीवन का विशेष लक्षण होता है अनासक्त होकर मन में किसी तरह का लगाव न रखना और सारी शक्ति को परोपकार में लगाना।

अत एक सच्चा वानप्रस्थी बनने के लिए उन्होंने अपने को हर प्रकार के बन्धनों और जिम्मेदारियों से मुक्त कर लेने का निश्चय किया। उन्होंने संकल्प किया कि मैं अपने बच्चों के लिए जितना उनकी शिक्षा के लिए आवश्यक है उससे ज्यादा कुछ न छोड़ूंगा। अब सबसे बड़े बेटे रघुनाथ की चिन्ता करना अनावश्यक था। पिता को बड़ी प्रसन्नता थी कि पुत्र ने प्रथम श्रेणी में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास कर ली और इस प्रकार उनके उस श्रम को सार्थक किया जो उसको गणित इतिहास और भूगोल पढ़ाने में पिता ने किया था। उसने कालेज और यूनिवर्सिटी की परीक्षाओं में भी वही ऊंचा स्तर कायम रखा। शंकर ने भी मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में लगभग वैसा ही स्थान पाया। पिता की इच्छा थी कि प्रीवियस परीक्षा के बाद वह फर्गुसन कालेज में ही अपनी पढ़ाई जारी रखे, लेकिन उसने डाक्टरी का धंधा चुना। दिनकर ने फर्गुसन कालेज में नाम लिखाया था और भास्कर न्यू इंगलिश स्कूल में ठीक-ठाक चल रहा था।

फिर भी कुछ जिम्मेदारिया और उलझनें थीं, लेकिन दूसरे तरह की। अतीत वर्षों की स्मृतियां जब उभरती थीं तो वे उन अवसरों का स्मरण करने

का प्रयास करते, जब वह किसी के प्रति अप्रिय या रुष्ट हुए थे। पर ऐसी घटना भी थी जिसे लोगों ने तो भुला दिया था, किन्तु उसके बाद भी वे, उसके स्मरण से बारबार आत्मपीड़ित होते रहते थे। सन् 1907 में, महिला विद्यालय की उनकी प्रस्तावित योजना पर विचार करने के लिए आश्रम की प्रबन्ध समिति की बैठक हुई। [illegible] और यह प्रोफेसर कर्वे के निरुत्साहित होने का यथेष्ट कारण था। बैठक खत्म हो चुकी थी लेकिन कुछ सदस्यगण अब भी उसी विषय पर बातें कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी स्वाभाविक शान्ति और वाक्-संयम पर आवेश को हावी हो जाने दिया था। समिति के अध्यक्ष डा० आर० जी० भण्डारकर से बातें करते हुए उन्होंने कुछ शब्दों का उपयोग किया था जो बाद में उन्हें ऐसा लगा कि वे अपमानजनक थे। लगभग पाँच वर्ष बाद इस घटना की दुःखद स्मृति फिर ताजा हुई तो उन्हें उसको सुधार लेने की प्रेरणा हुई। उस समय वह हैदराबाद (सिंध) में थे। उन्होंने वहीं से डा० भण्डारकर को लिखा—

आदरणीय महोदय, 15 दिसम्बर 1911

मुझे अत्यन्त पश्चात्ताप हो रहा है कि पाँच वर्ष पूर्व जब आश्रम में विधवाओं के प्रवेश के प्रश्न पर अन्तिम रूप से विचार हुआ था तो विधवा भवन की समिति की बैठक में मैंने अपमानजनक शब्दों का व्यवहार किया था। उन शब्दों के प्रयोग और अपने आचरण के लिए मुझे अत्यन्त खेद है। मैं उस समय उत्तेजित हो गया था और मेरा व्यवहार अभद्र था। बहुत समय तक मैंने ऐसा अनुभव नहीं किया और कालान्तर में यह अनुभूति हुई तो मुझमें क्षमा याचना का साहस नहीं था। फिर भी उसके कभी न होने से देर से होना अच्छा है। अतः अब मैं अप्रतिबद्ध होकर उस रात के अपने व्यवहार के लिए क्षमा याचना करता हूँ और आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप मुझ पर कृपा करें और मुझे क्षमा कर दें।

जनवरी के दूसरे सप्ताह में जब मैं पूना लौटूँगा तो इस पत्र की प्रतिलिपियाँ समिति के उन सदस्यों के पास भी भेज दूँगा, जो उस रात को वहाँ उपस्थित थे।

आपका आज्ञानुवर्ती

डी० के० कर्वे

डा० भण्डारकर ने नीचे लिखा उत्तर दिया—

संगम, पूना
23 दिसम्बर, 1911

प्रिय श्री कर्वे

आपने जिस घटना का उल्लेख किया है उसमे आपने केवल यही कहा था कि आपको अपनी नई संस्था के लिए किसी समिति की जरूरत नही है। इससे अधिक विचार उस घटना के बारे में मैंने कभी नही किया। मैंने इसे अपना अपमान बिल्कुल नहीं समझा था बल्कि केवल इतना ही समझा था कि आपको हम लोगो की किसी प्रकार भी सहायता की आवश्यकता नही है।

आपका विश्वस्त,
आर० जी० भण्डारकर

28 अगस्त 1913 को पूना के जॉन स्माल मेमोरियल हाल मे एक सभा हुई। वक्ता थे प्रोफेसर कर्वे। सभा मे उन्होंने अंग्रेजी मे एक निबंध पढा, जिसका विषय था 'भारतीय नारियो की सेवा मे बीस वर्ष।' निबंध पढा जा चुका तो उसकी छपी हुई प्रतियां बांटी गई। प्रोफेसर कर्वे के आलोचको और उनके मित्रो दोनो को ही इस बात की अधिक अन्तरंग जानकारी मिली और उसका मूल्यांकन कर सकने का अवसर मिला कि भारतीय नारियों की स्थिति सुधारने और उनकी प्रतिष्ठा बढाने के लिए उन्होंने कितना अनवरत श्रम और अथक प्रयत्न किया है। मराठी की लोकप्रिय मासिक पत्रिका 'मासिक मनोरंजन' के सम्पादक श्री के० आर० मित्र ने भी उसे पढा। उससे वह बडे प्रभावित हुए। पहले उन्होंने प्रोफेसर कर्वे से आग्रह किया कि आप उस अंग्रेजी निबंध को फिर से मराठी मे लिख दें। जब श्री मित्र को उनको इच्छानुकूल उत्तर मिला तो उन्होंने प्रोफेसर कर्वे से एक पत्र लिखकर यह भी अनुरोध किया कि आप अपने संस्मरण लिखें। उन्होंने उनको छापा और प्रकाशित करने का जिम्मा लिया। श्री मित्र ने बुकर टी० वाशिंगटन की आत्मकथा का मराठी अनुवाद प्रकाशित करके उसकी प्रतियां मासिक मनोरंजन के ग्राहको को वार्षिक

उपहार के रूप में भेजी थी। अगले वर्ष वह अपने ग्राहकों को प्रोफेसर कर्वे की आत्मकथा की प्रतियां देना चाहते थे।

प्रोफेसर कर्वे में एक संकोच तथा विनयपूर्ण शालीनता थी और अत्यधिक विनम्रता उनकी एक प्रधान कमजोरी थी। अतः श्री मित्र के इस अनुरोध की तात्कालिक प्रतिक्रिया यह हुई कि उनकी इच्छा हुई कि उसे सधन्यवाद अस्वीकृत कर दें। लेकिन कुछ समय बाद उन्होंने इस संकोच पर विजय पा ली। उन्होंने सोचा कि यदि मेरी इस प्रस्तावित आत्मकथा का भी जनता वैसा ही अनुकूल स्वागत करे जैसा उसने मेरे भाषण 'भारतीय नारियों की सेवा में बीस वर्ष' का किया तो उससे भी एक उपयोगी कार्य सिद्ध होगा। उससे आश्रम, विद्यालय और मठ के कार्य की जनता में ख्याति होगी। तदनन्तर 'मासिक मनोरंजन' के सभी पाठकों तथा प्रोफेसर कर्वे के प्रशंसकों के विशालतर जन समूह को 1915 में दीवाली के अवसर पर 'आत्मवृत्त' मिला। अपने पत्र के ग्राहकों और पाठकों को यह पुस्तक भेंट करते हुए उसके लेखक का परिचय सम्पादक ने इन शब्दों में दिया था, 'जिसने भारतीय नारियों की उन्नति के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया और अनाथ बालिकाश्रम, महिला विद्यालय तथा निष्काम-कर्म मठ जैसी तीन संस्थाओं की स्थापना करके तथा उन्हें चलाकर महाराष्ट्र को गौरवान्वित किया।"

'आत्मवृत्त' के प्रकाशन के दो महीने बाद प्रोफेसर कर्वे राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए बम्बई गए। अधिवेशन बड़े दिनों में बड़े दिन की छुट्टियों में हुआ।

चालीस वर्ष पूर्व, सतारा में पब्लिक एग्जामिनेशन कमेटी के चेयरमैन के सामने एक विद्यार्थी खड़ा कांप रहा था। चेयरमैन ने उसे उस वर्ष की वार्षिक परीक्षा में शामिल होने की अनुमति इसलिए नहीं दी कि वह बहुत छोटा दिखता था। वही लड़का सत्तावन साल का होकर अब सुधार के अग्रदूत के रूप में विचार गोष्ठी में सुधार की दिशा का ज्ञापन करा कर उनका मार्गदर्शन करने के लिए अखिल भारतीय नेताओं के बीच खड़ा होने वाला था।

चालीस साल ! वही व्यक्ति अब प्रौढ बन कर जीवन के अनेक उतार-चढाव परीक्षाओ और सफलताओ पर कृतज्ञतापूर्वक दृष्टि डाल सकता था, लेकिन उसमें अभिमान लेश मात्र नही था। यद्यपि आयु मे अब वह साठ के करीब थे और अपनी अवस्था के किसी भी व्यक्ति की तुलना मे उन्होंने बहुत कुछ किया था, इस कारण वह जीवन को संतुष्ट होकर देख सकते थे। लेकिन उन्होने पास आ रही साठवी वर्ष गाठ को अपनी यात्रा का अन्त नही माना।

बारहवें अध्याय का पूरक

1 मठ के उद्देश्य हैं—

(क) महिला कार्यकर्त्रियो के एक ऐसे दल की सृष्टि और स्थापना जो समाज कल्याण कार्य उत्साह और लगन के साथ करना चाहे।

(ख) पुरुष कार्यकर्ताओ को भर्ती करना और मठ का काम प्रारभ करके तब तक उसे चलाते रहना जब तक महिला कार्यकर्त्रियो का दल तैयार न हो जाए। उसके बाद पुरुष कार्यकर्ताओ का प्रवेश रोक देना और वर्तमान कार्यकर्ताओ को इस बात की छूट देना कि चाहे तो इस्तीफा दे दें और चाहे तो अपने जीवन के अंत तक काम करते रहे।

(ग) स्त्रियो के आवासीय स्कूलो और दिवा-स्कूलो का सचालन और शैक्षणिक तथा अन्य सामान्य परोपकारपूर्ण दानशील काम करना।

(घ) मठ की शक्ति के अनुसार उक्त प्रकार के काम करने मे सलग्न सस्थाओ को व्यक्ति और धन द्वारा सहायता देना।

2 मठ के प्रत्येक सदस्य को विधिवत यह पवित्र प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि—

(क) आज के बाद से मैं अपना जीवन मठ के काम मे लगाऊगा।

(ख) मैं अपनी सामर्थ्य और योग्यता का भरसक पूरा उपयोग करूगा और जब तक सस्था के काम मे लगा रहूगा, व्यक्तिगत लाभ की कभी इच्छा नहीं रखूगा।

(ग) संस्था के नियमों के अनुरूप सभी सुसंगत निर्णयों को उनके प्रति वैमनस्य या असंतोष प्रकट किए बिना स्वेच्छा से स्वीकार करूंगा।

(घ) बहुमत द्वारा मेरे और मेरे आश्रितों के भरण-पोषण का जो भी प्रबन्ध होगा, उससे प्रसन्न और संतुष्ट रहूंगा।

(ङ) मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में शुद्ध आचरण करूंगा।

(च) मेरा रहन-सहन और पहनावा सीधा-सादा और सरल होगा।

(छ) दूसरों की धार्मिक मान्यता के प्रति उदार दृष्टि रखते हुए मैं कभी उनकी भावना को चोट पहुंचाने वाला कोई काम नहीं करूंगा।

(ज) मैं किसी से घृणा नहीं करूंगा।"

(लुकिंग बैक, पृष्ठ 89 90)

मठ की स्थापना से पहले ही प्रोफेसर कर्वे ने एक विशिष्ट ढंग से इसके लिए धन एकत्रित करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने 'लुकिंग बैक' में लिखा—

"उन दिनों एक रुपए का डाक टिकट बेचने पर पोस्टमास्टरों को एक पैसा रुपया कमीशन मिला करता था। रसीदी टिकट की बिक्री पर रुपए में एक आना कमीशन मिलता था और ये टिकट हर डाक घर में मिलते थे। हम लोगों के विधवा भवन में एक डाकखाना था और वहां की अध्यक्षा ने भविष्य में स्थापित होने वाले मेरे मिशन के काम के लिए अपने हिस्से का सारा कमीशन मुझे दे देने का वादा किया था। मैंने साप्ताहिक 'ज्ञान प्रकाश' के मैनेजर को मुझसे टिकट खरीदने के लिए राजी कर लिया था और उनको आश्वासन दिया कि मैं उन्हें बराबर टिकट भिजवाता रहूंगा। मैं आधा पैसा उन्हें देता था और आधा मठ का हिस्सा होता था। एक दफ्तर का क्लर्क भी मुझ से अपने दफ्तर के लिए हर महीने रसीदी टिकट खरीदता था। जब मठ स्थापित हुआ, उस समय तक इस आय के स्रोत से 65 रुपए जमा हो चुके थे। मठ के हिसाब में जमा होने वाली पहली आय इन्हीं रुपयों की थी। मठ का आरम्भ होने से कुछ पहले से यह काम रोक देना पड़ा क्योंकि सरकार ने

हो, हम जोर देकर यह कह रहे हैं कि हमारी इन बातों से प्रोफेसर कर्वे के दोष ढूंढने और उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करने अथवा उनकी महान पूर्व सेवाओं के महत्व को छोटा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु वह स्वयं ऐसे व्यक्ति कदापि नहीं हैं जो इस बात का विरोध करें कि लोग उनसे अपना मतभेद रखें और उसे व्यक्त करें। हमारा यह भी विश्वास है कि निष्काम कर्म मठ और उसके तौर-तरीकों, महिला विद्यालय के प्रति उसका आग्रहपूर्ण झुकाव, इन दोनों संस्थाओं की गैर-जिम्मेदाराना और निरंकुश व्यवस्था और विधवा भवन की वर्तमान स्थिति और भावी संभावनाओं पर इससे पड़ने वाले अवांछनीय प्रभाव की जैसी विवेचना हमारे विश्वासी और आदरणीय मित्र ने की है अधिकतर समझदार लोग उसका समर्थन करेंगे। हम स्वीकार करते हैं कि कम से कम विधवा भवन के लिए हम बहुत चिंतित हैं। मठ और उसके अव्यावहारिक आदर्शों की हमें कम चिन्ता है और थोड़े ही लोगों को इसकी परवाह है कि उसके भाग्य में क्या बदा है। महिला विद्यालय, एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य केवल हर तरह की लड़कियों को ऊंची शिक्षा देना और इस संयोग से उनके विवाह योग्य बनने की आयु को बढ़ाना है, वह किसी तरह एक नए ढंग की या अपनी तरह की अकेली संस्था नहीं है। पूना में फीमेल हाई स्कूल, फल फूल रहा है बम्बई में चंदाराम जी और सेंट एस० एस सी० सोसाइटी के सुसंचालित स्कूलों के अलावा लड़कियों के अन्य हाई स्कूल हैं। इन्दौर, अमरावती, ग्वालियर और दूसरी जगहों में ऐसी ही संस्थाओं के खुलने की निश्चित संभावना है। अतः यदि महिला विद्यालय बन्द होकर समाप्त ही हो जाए तो भी कोई ऐसा संकट नहीं होगा जिसकी क्षतिपूर्ति न हो सके। इसके विपरीत विधवा भवन निःस्वार्थ सेवा भावना से प्रेरित एक ऐसी संस्था है जिसकी पवित्रता का स्पष्टीकरण और विशद वर्णन अनावश्यक है। दक्षिण भारत में इस प्रकार की एकमात्र संस्था होने के कारण वह इसकी पात्र है कि समाज सुधार के सभी हितैषी अपना पूरा ध्यान देकर उसकी देखभाल और सहायता करें। अतः, जैसा कि हमारे लेखक ने अपने लेख में दिखलाया है यदि सचमुच विधवा भवन की हानि हो रही है तो पूना में वर्तमान परिस्थिति में जो कुछ हो रहा है उसके

सुधार का तत्काल और प्रभावी रूप से प्रबन्ध होना चाहिए। हमारे मित्र ने केवल ध्वस और खण्डन करने के लिए आलोचना नही की है। उन्होने ऐसे रचनात्मक सुझाव विस्तार से दिए है जो न केवल विचारपूर्वक प्रस्तुत किए गए प्रतीत होते हैं, बल्कि सद्भावना और समझौते की दृष्टि से भी सोचे गए हैं। हम यह जानने को उत्सुक हैं कि प्रोफेसर कर्वे उनके बारे मे क्या कहते है। हम विचारशील लोगो के सुझावो का भी स्वागत करेंगे। हम और किसी बात के लिए नही केवल एक सतोषजनक समाधान के लिए चिन्तित है। इस चर्चा का हमारा उद्देश्य केवल यह है कि इस तरह का समझौता ईमानदारी से हो सके। हमे जो सूचनाए दी गई है, उनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि पूना की इन तीनो सस्थाओ के कार्यकर्ताओ और सचालको मे आपस मे इस विषय मे गहरा मतभेद है जिससे गतिरोध उत्पन्न हो गया है और ऐसी अवस्था मे उसकी निर्बाध सार्वजनिक चर्चा करने से समुचित समाधान ढूढने मे सबसे अधिक सहायता मिल सकती है।"

('आत्मवृत्त' तीसरा सस्करण, पृष्ठ 289 290)

'सन 1915 के आरम्भ मे इन तीनो सस्थाओ को प्रसन्नता पूर्वक एक कर दिया गया। मठ के सेवक और सेविकाओ को हिंदू विधवा भवन एसोसिएशन का आजीवन कार्यकर्ता बना लिया गया और अब यह विधवाओ तथा विवाहित स्त्रियों और अविवाहित लडकियो के लिए एक आवास की सुविधा प्रदान करने वाला स्कूल बन गया। इस हाईस्कूल के नाम से महिलाश्रम, अनाथ बालिकाश्रम और महिला विद्यालय के एक हो जाने का सकेत मिलता था। सस्था ने अपने व्यय से होनहार विधवा युवतियो को आजीविका देने और शिक्षित करने की प्रारम्भिक योजना को चालू रखा और इस समय प्राय जिन विधवाओ को वहा इस प्रकार शिक्षा दी जा रही है उनकी सख्या चालीस से पचास तक है। नई परिस्थितियो के अनुसार विधवा भवन एसोसिएशन की नियमावली को भी बदल कर उसे डक्कन एजुकेशन सोसाइटी के नमूने पर तैयार किया गया। एसोसिएशन के उद्देश्य और लक्ष्य ज्यो के त्यो रहे, क्योकि उनमे पहले से ही अविवाहितो की शिक्षा की व्यवस्था सम्मिलित थी। कहावत है 'सघे शक्ति' मतभेदो के मिट जाने पर सयुक्त प्रयत्नो से सम्मिलित सस्थाओ ने स्वस्थ

विकास की सुन्दर सभावनाम्रो का पथ प्रशस्त हो गया। विधवा भवन मे रहने वालो की सख्या एक सौ थी और महिला विद्यालय म इक्यानवे अतवासिनिया थीं। उनको लेकर एक बढ़िया आवासीय विद्यालय बना। नए और योग्य आजीवन सदस्य लिए गए और महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए भूमिका तैयार हो गई। यद्यपि उस समय ऐसा करने का कोई विचार नही था लेकिन कुछ समय बाद वह मरे मस्तिष्क मे कौंध गया ।"

(लुकिंग बैक, पष्ठ 95)

अध्याय 13

बीज और वृक्ष

1915 के अगस्त का एक सवेरा। अब प्रोफेसर कर्वे अध्यापन के कर्तव्य भार से मुक्त हो गए थे। वह हिंगने में अपने कार्यालय की मेज पर काम करते रहते। उन्हें इसकी प्रसन्नता थी कि अब वह आश्रम के काम को अपना पूरा ध्यान दे पाते थे। और वहां काम भी इतना था कि हर वक्त पूरी शक्ति से उसी में लगे रह सकते थे।

चपरासी सवेरे की डाक लाया और अन्ना की मेज पर रख गया। दूसरा काम छोड़ कर उन्होंने एक एक कर के सब पत्र खोले। डाक में एक विवरण पत्रिका का पुलिंदा था। उन्होंने खोल कर उसके पन्ने पलटे तो देखा कि उसमें जापानी महिला विश्वविद्यालय के कार्यों का विवरण था।

महिलाओं के लिए विश्वविद्यालय का विचार उनके लिए बिलकुल नया नहीं था। उन्होंने सदा ऐसा तीव्र अनुभव किया था कि महिलाओं की शिक्षा का मुख्य ध्येय उन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण देना है जिससे वे दक्ष गृहिणी और माता बन सकें। उन्होंने इस उद्देश्य को लेकर महिलाओं के लिए एक विशेष पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर अपनी संस्थाओं की वार्षिक रिपोर्टों में बार बार जोर दिया था, और उसे समय समय पर जारी किए विशेष परिपत्रों में दुहराया भी था। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर उन्होंने महाराष्ट्र महिला विश्वविद्यालय का अपना विचार प्रस्तुत किया था। वह चाहते थे कि इस प्रकार की संस्था में मातृभाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा सुलभ की जाए। यद्यपि उन्होंने स्वयं इस प्रकार के विचार का पोषण

और संवर्धन किया पर इसमें उन्हें एक बहुत बड़ी महत्वाकांक्षा की भी झलक दिखती थी। लगभग दस वर्षों तक बिना कोई सुस्पष्ट आकार धारण किए यह विचार उनकी कल्पना में बना रहा।

आश्रम और विद्यालय के कामों में व्यस्त रहने के कारण अन्नाउस समय उस विवरणपत्र में चर्चित महिलाओं की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जापानी प्रयोग पर ज्यादा ध्यान न दे सके। जल्दी-जल्दी सिर्फ उसके पन्ने उलट कर उन्होंने उसे अपनी दराज में डाल दिया और कुछ समय बाद उसे बिलकुल भूल ही गए।

उस समय बड़े दिनों की छुट्टियों में बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। लगभग तीस वर्ष पहले न्यायमूर्ति रानाडे की चलाई हुई प्रथा के अनुसार कांग्रेस अधिवेशन के तुरन्त बाद उसी जगह राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन भी होने वाला था। सामाजिक सम्मेलन के मंत्री सर नारायण चंदावरकर ने प्रोफेसर कर्वे से एक पत्र में अनुरोध किया कि आप सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन की अध्यक्षता करें।

अन्ना के लिए यह आमंत्रण अप्रत्याशित था। वह सदा अपने को हिंगने के दूरवर्ती कोने में काम करने वाला एक साधारण व्यक्ति ही मानते रहे। उन्हें लगा कि एक अखिल भारतीय सम्मेलन में विचार विमर्श की अध्यक्षता करने के लिए मैं सर्वथा अक्षम हूं। इसलिए उन्होंने उसी समय एक पत्र में सर चंदावरकर को विनम्रतापूर्वक धन्यवाद देते हुए इस गौरवान्वित प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। सर चंदावरकर इस प्रकार की अस्वीकृति को उनका अंतिम निर्णय माननेवाले नहीं थे। महाराष्ट्र में महिलाओं के सुधार कार्य के अग्रदूत प्रो० धोंडो केशव कर्वे को बुलाने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था। अन्त में सर नारायण प्रोफेसर कर्वे से अपना आमन्त्रण स्वीकार कराने में सफल हुए।

राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए बम्बई जाने की स्वीकृति देने के बाद प्रोफेसर कर्वे को उस जापानी महिला विश्वविद्यालय के विवरण-पत्र का ध्यान आया जो उन्हें लगभग चार सप्ताह पहले मिला

था। सौभाग्य से वह उसी दराज में सुरक्षित पड़ा था जिसमें उन्होंने उसे रख छोड़ा था। उसे निकाल कर वह पढ़ने लगे। महिलाओं के लिए एक अलग विश्वविद्यालय आरम्भ करने के विचार का नवोन्मेष हुआ और वह उस विवरण-पत्रिका को ध्यान से पढ़ने लगे। ज्यों ज्यों वह उसे पढ़ते गए उनका यह भाव हृदयंगम होता गया और उन्होंने अध्यक्षीय पद से महाराष्ट्र के लिए महिला विश्वविद्यालय के विषय में ही अपना भाषण करना निश्चय किया।

जापान के महिला विश्वविद्यालय की स्थापना 1900 में यह दृष्टि रख कर हुई थी कि देश के राष्ट्रीय नवनिर्माण में जापानी महिलाएं पीछे न रहें। संस्थापकों ने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि हम 'न तो अमेरिका और यूरोप की जैसी महिलाओं के ऊंचे दर्जे की संस्थाओं का अनुसरण करना चाहते हैं और न हमें जापान के पुरुषों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम से ही होड़ लगानी है।" उनका उद्देश्य एक ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना था जो महिलाओं की तत्कालीन मानसिक और शारीरिक स्थिति के अनुकूल होता। उसका स्तर वे धीरे धीरे ऊंचा करके उसे आधुनिक उन्नति के सार्वभौम स्तर तक पहुंचाना चाहते थे।

प्रोफेसर कर्वे को सबसे ज्यादा पसंद यह आया कि जापानी विश्वविद्यालय [redacted] प्रवर्तक महिलाओं का प्रधान कार्यक्षेत्र घर को मानते थे। उनके अनुसार महिलाओं को घर में ही अपनी अध्यक्षता में अपने काम संचालन की प्रतिभा का उपयोग पारिवारिक जीवन में करना था। यही उनके समाज और देश के कल्याण का आधार था। वे चाहते थे राष्ट्रीय उन्नति के काम में, जो जापान में पचास या साठ वर्षों तक उत्साहपूर्वक और बड़ी सफलता से चल रहा था पुरुषों के साथ स्त्रियों का बराबर साझा रहे। उनके मन में जापान में स्त्रियों के लिए एक अलग विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात आई क्योंकि उस समय तक राष्ट्रीय उन्नति एकांगी ही रही थी, जिसके प्रति अब वे सजग हो चुके थे।

महिला विश्वविद्यालय के संस्थापकों के सामने एक स्पष्ट उद्देश्य यह था

कि उन स्त्रियों को प्रचुर साधन और अवसर मिलें जो विवाह नहीं करना चाहती थीं। वहां ऐसा माना जाने लगा था कि अविवाहित स्त्रियां भी राष्ट्रनिर्माण कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

उनके सामने ये तीन आधारभूत बातें थीं—(1) महिलाओं के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उनको मानव के रूप में शिक्षित करना, (2) अगर वे विवाह करना चाहें तो उन्हें अच्छी पत्नी और मां बनने की योग्यता देना और (3) राष्ट्र के सदस्य के रूप में उन्हें ऐसी शिक्षा देना जिससे वे राष्ट्र निर्माण के काम में योग दे सकें।

जापान में महिलाओं की शिक्षा के लिए जो प्रयास हो रहे थे, प्रोफेसर कर्वे ने उनके विभिन्न अंगों पर विचार किया। उन्होंने अपने भाषण में विचार विमर्श का आधार उन्हीं सिद्धांतों को बनाया जिनसे जापान में महिला विश्वविद्यालय के संस्थापकों को प्रेरणा मिली थी। इसके लिए उन्होंने जापान के इस आन्दोलन की प्रगति का सावधानी से तारतम्यपूर्ण अध्ययन किया।

किंतु प्रोफेसर कर्वे इस विषय में काफी सावधान थे कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने का प्रयोग जब महाराष्ट्र में किया जाए तो जापान में जो कुछ हुआ उसकी पूरी असली नकल न की जाए। बहरहाल, एक बात ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। जापानी महिला विश्वविद्यालय वहां की सरकार के नियन्त्रण से बिलकुल मुक्त था और उससे कोई आर्थिक सहायता भी नहीं लेता था। तथापि उसे जापान के शाही घराने से और कुछ सरकारी अफसरों से उनके व्यक्तिगत रूप में नैतिक और आर्थिक सहायता प्राप्त थी।

उस विवरण पत्रिका को बार-बार पढ़ने से इस दिशा में कुछ करने का उनका संकल्प दृढ़तर हो गया। उन्होंने आश्रम के काम से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध व्यक्तियों से बात की तो उन्हें सुनकर हुई कि उन्होंने उनके विचारों का समर्थन किया। निष्काम कर्म मठ में उनके सहयोगी श्री गाडगिल ने तो इस नए लक्ष्य के लिए मौखिक सहानुभूति ही नहीं दी बल्कि कुछ और भी किया। उन्होंने उन्हें 21 दिसम्बर 1915 को पत्र लिखकर दस हजार

रुपये देने की इच्छा प्रकट की। अपनी पत्नी और इकलौती बेटी के लिए व्यवस्था करके यही उनकी कुल बची हुई धन राशि थी। महाराष्ट्र में महिलाओं को शिक्षा देने के लिए प्रस्तावित विश्वविद्यालय द्वारा हिंगने में जो कालेज चलाया जानेवाला था यह दान उसी के निमित्त था। आश्रम के ग्रेजुएट आजीवन सदस्यों ने भी आश्वासन दिया कि अभी हम जो वेतन मिल रहा है, उससे अधिक की याचना किए बिना हम कालेज में काम करेंगे।

यह प्रेरणा अब अदम्य हो चली। समय को न गवा कर तुरत इसे कार्यान्वित होना चाहिए था। सामाजिक सम्मेलन तीस दिसम्बर को था। उसके दो तीन दिनों में प्राफेसर कर्वे आश्रम की संयोजक समिति के सदस्यों से मिले। उसके सदस्यों की प्रतिक्रिया बहुत उत्साहवर्धक थी। उन सदस्यों में डा० भण्डारकर, श्रीमती रमाबाई रानाडे प्रोफसर भाटे, डा० एच० एस० देव, प्रो० सहस्रबुद्धे और डा० पी० डी० गुणे भी थे। उस समय उनके लिए समिति की बैठक का आयोजन सम्भव नहीं था। अत एक परिपत्र सब सदस्यों के पास भेजा गया जिसमें यह कहा गया था

हिन्दू विधवा गृह के एसोसियेशन का कर्तव्य है कि अंग्रेजी भाषा को एक अनिवार्य विषय बना कर मराठी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाला एक महिलाओं का विश्वविद्यालय महाराष्ट्र में स्थापित करने का प्रयास करे और इस विश्वविद्यालय का पहला कालेज यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ कर दिया जाय।"

संयोजक समिति के सदस्यों की इस पर सहमति प्राप्त करके प्रोफेसर कर्वे अब अपने सभापति के पद से दिए जानेवाले भाषण को अन्तिम रूप देने में लग गए। उसे उन्होंने अपने मित्र श्री के० नटराजन को दिखाया जो उस समय 'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। श्री नटराजन ने उनका भाषण पढ़ कर उनको कुछ उपादेय राय दी साथ ही उन्होंने कर्वे से कहा कि उनके महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के विचार से वे पूर्णतया असहमत हैं।

और भी कई व्यक्ति, जिनकी सम्मति को प्रोफेसर कर्वे बहुमूल्य मानते

थे, या तो इस विचार का विरोध कर रहे थे या उनको सावधान रहने की राय दे रहे थे। उनमें एक डा० आर० पी० पराजपे थे। सामाजिक सम्मेलन की सन्ध्या को, निर्वाचित सभापति का एक जीवनवृत्त प्रकाशित हुआ। इसे डा० पराजपे ने लिखा था। कर्वे के इस नवीनतम विचार के बारे में डा० पराजपे ने लिखा

'श्री कर्वे के जीवन में क्रमश विकास की मंजिलों को उनके कार्यों में देखा जा सकता है। उनकी सभी सस्थाओं के एक हो जाने से क्या अब इस विकास की प्रक्रिया रुक गई है? वह ऐसा नहीं समझते। उनकी कल्पना की आभ्यन्तर दृष्टि में इसी स्कूल से विकसित होता हुआ महिलाओं का एक विश्वविद्यालय तैर रहा है। हिंगने को महिलाओं की उन्नति के समस्त कार्यों का केन्द्र बनाने की उनकी अभिलाषा है।

"महिलाओं की शैक्षणिक सस्थाओं के नैसर्गिक विकास की चरम परिणति महिला विश्वविद्यालय है। लेकिन हम दो शब्दों में सावधान करना चाहते हैं। यदि ऐसा करने की हमको स्वतन्त्रता है तो हम कहेंगे कि इस नैसर्गिक विकास के स्वेच्छापूर्वक किए गए ज्ञात प्रयास का आज भी अपनाने योग्य मार्गदर्शक सिद्धान्त 'शनैः प्रवधनमान गति' होनी चाहिए।"

प्रोफेसर कर्वे के हितैषियों में डा० पराजपे ही अकेले ऐसे व्यक्ति न थे, जिनका ऐसा विचार था। प्रोफेसर कर्वे ने महिलाओं की शिक्षा के लिए जो प्रयास किए थे, उनका मत उन्हीं पर आधारित था। डा० पराजपे ने लिखा था

'उनके शहर वाले छोटे से होस्टल को, जिनमें दो तीन विधवाएं रहती थीं। पूरा स्कूल बनने में बीस वर्ष लगे। उस स्कूल से अभी तक किसी ने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास नहीं की है। इसके पास एकत्रित धन भी अधिक नहीं है। यद्यपि उनके पास जो कुछ है, वह प्रोफेसर कर्वे की केवल अपनी अजेय शक्ति के परिणामस्वरूप है।"

प्रोफेसर कर्वे के प्रारम्भ किए हुए सभी कार्यों में डा० आर० जी० भडारकर उनके मार्गदर्शक और परामर्शदाता रहे थे। लगभग उसी समय

समाज सुधार के अन्य नेता सर नारायण चदावरकर से डा० भडारकर की बातें हुइ। उनमे भी उन्होने वही आशका व्यक्त की थी जिसका उल्लेख डा० पराजपे ने कर्वे के जीवनवृत्त मे किया था। उन्होने कहा था

"हा, प्रोफेसर कर्वे आजकल महिला विश्वविद्यालय की अपनी नई योजना को लेकर व्यस्त हैं, लेकिन अनाथ बालिकाश्रम के बारे में उन्होने मेरे एक सुझाव पर ध्यान नहीं दिया जो मैं बहुत अर्से से उन्हे देता आ रहा हू। आश्रम की स्थापना हुए बीस साल से भी ऊपर हो गए। इस अर्से मे हम एक भी लडकी या विधवा को मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास नही करा सके हैं। मैं बराबर उन पर इस बात को लेकर जोर डालता रहा हू कि आश्रम में हमने जिन लडकियो का पालन पोषण किया है और जिन्हे शिक्षा दी है उन्होने बाहर जा कर सामान्य जीवन में अपना स्थान बनाने का प्रयास किस प्रकार किया, उनकी गतिविधि के बारे मे सूचना एकत्रित की जाए। लेकिन सिवाय इस उत्तर के कि वे सब आराम के साथ अपना काम ठीक चला रही हैं मुझे कोई उपयोगी सूचना नही मिली।"

प्रोफेसर कर्वे जानते थे कि उनके हितैषी जो उन्हे 'धीमी तेजी' बरतने को कहते हैं (जैसा कि डा० पराजपे ने उन्हे कहा था) वह बिलकुल ठीक है। लेकिन अब यह न सिर्फ उनकी आदत सी हो गई थी बल्कि यह उनका सिद्धान्त ही बन गया था कि जो करना ही है, उसे तुरन्त कर डालो। अपनी आत्मकथा के अग्रेजी सस्करण में उन्होने लिखा है

'यह राय ठोस और विवेकसगत थी। लेकिन मेरी उम्र बढ रही थी। मैं 57 का हो चुका था। इसलिए जिस काम मे अदृष्ट बाधाए आ सकती हैं उसमे देरी न करके समय का तुरन्त सदुपयोग करना चाहिए। मुझे जिन कठिनाइयो का सामना करना था, उनका मुझे पता था। मैं यह भी जानता था कि मेरी सफलता की अपेक्षा असफलता के मौके कही ज्यादा हैं। फिर भी कैसा भी जोखिम उठा कर उस विचार को एक बार प्रयोग मे ला कर उसकी परीक्षा तो करनी ही थी। मुझे लगा कि अगर ईमानदारी से

प्रथक प्रयास किया जाए तो असफलता पाना कोई लज्जा की बात नही।"[1]

यह एक आदर्शवादी व्यक्ति की कल्पना थी। मानो कोई पगला अधरे म छलाग लगा रहा हो। जो लोग उन्हे बहुत निकट से और बहुत अर्से से जानते थे, उन्हें भी यह अच्छी तरह पता था कि उनको रोक रखना असम्भव होगा। डा० परांजपे, जो उनके साथ बहुत दिनो तक रहे और उनके सामने बढे पनपे, अच्छी तरह जानते थे कि मेरी चेतावनी बेकार होगी। उनका संक्षिप्त जीवन वृत्त लिखने से कुछ सप्ताह पहले उन्होने प्रोफेसर कर्वे की आत्मकथा का परिचय लिखा था। उसे 'मासिक मनोरंजन' के सम्पादक प्रकाशित कर रहे थे। प्रोफेसर कर्वे का एक सुधारक के रूप में विवरण देते हुए उन्होने लिखा

"कुछ विषयों मे जो उनकी दृष्टि मे प्राथमिक महत्व के नही हैं—यहां तक कि सामाजिक सुधार से सम्बंधित विषयो में भी—वह बहुत कट्टर नहीं हैं—क्योंकि जहा तक सम्भव हो, वह किसी को ठेस पहुचाना या दुखी करना नही चाहते। लेकिन यदि किन्ही कार्यों में सिद्धांत का सवाल हो तो वह अपनी बात से रत्ती भर भी न हटेंगे और किसी भी कारण अपने सिद्धान्त की हत्या न होने देंगे। जहा वास्तविक और स्थायी सुधार चाहिए और जिनके बारे मे उन्हे यकीन हो गया है कि वे नितांत आवश्यक हैं, तमाम बाधाओ के बावजूद चाहे वे कितनी भी बडी क्यो न हो, वह कार्यरत रहते हैं और आगे बढते रहेंगे।"

राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन का अधिवेशन बम्बई मे 30 दिसम्बर को आरम्भ हुआ। सम्मेलन के मन्त्री सर नारायण चदावरकर स्वागत समिति के अध्यक्ष भी थे। उन्होने देश के विभिन्न भागो से आए प्रतिनिधियो का स्वागत किया। अपने भाषण में सर नारायण ने मनोनीत सभापति को प्रथक मौन कार्यकर्ता तथा बम्बई प्रसिडेंसी की महिलाओ के महानतम हितकारियो मे बताया।

1 लुकिंग बैक पृष्ठ 10।

सभापति पद ग्रहण करने के लिए औपचारिक प्रस्ताव में बम्बई के प्रसिद्ध समाजसेवी गोकुलदास काहनदास पारेख ने प्रोफेसर कर्वे का नाम लिया और उसका समर्थन कलकत्ता के भूपेन्द्रनाथ बसु ने किया। प्रस्ताव का अनुमोदन नागपुर के रावबहादुर आर० एन० मुधोलकर ने किया।

अपने भाषण में समाज सुधार की सामान्य समस्याओं की हल्की सी चर्चा करने के बाद अध्यक्ष ने अपने देश की महिलाओं की शिक्षा के प्रश्न पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने शिक्षा के बारे में *1854* के प्रसिद्ध वुड्स डिस्पैच के 83वें पैराग्राफ का उद्धरण देते हुए अपना भाषण आरम्भ किया। उसमें कहा गया था

"भारत में स्त्री शिक्षा के महत्व का अधिमूल्यांकन असम्भव है। उसके बढ़ते हुए महत्व को देखकर हमें प्रसन्नता होती है। इसका प्रमाण यह है कि भारत के बहुत से निवासियों में अब अपनी लड़कियों को अच्छी शिक्षा देने की चाह बढ़ती जा रही है। स्त्री शिक्षा से पुरुषों की शिक्षा के मुकाबले जनता के शैक्षणिक और नैतिक स्तर को अपेक्षाकृत अधिक उन्नत और प्रोत्साहित किया जा सकता है।"

जिन दो सिद्धान्तों को प्रोफेसर कर्वे ने स्त्रियों की माध्यमिक और उच्च शिक्षा का आधार बताया, वे हैं

1 शिक्षा का सबसे अधिक स्वाभाविक अतएव श्रेष्ठ माध्यम है शिक्षार्थी की मातृभाषा।

2 सामाजिक व्यवस्था में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अलग वर्ग है जिसके काम पुरुषों के काम से भिन्न हैं।

किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में वे सभी स्त्रियों को उन अवसरों से वंचित नहीं करना चाहते थे जो पुरुषों को उपलब्ध थे। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा

"मेरा मतलब यह नहीं है कि जिन स्त्रियों की महत्त्वाकांक्षा पुरुषों को उन्हीं के मैदान में पछाड़ने की है और जो वर्तमान विश्वविद्यालयों में पुरस्कारों और सम्मानों के लिए पुरुषों से होड़ लेना चाहती हैं, उनका मार्ग

नितान्त रोक दिया जाए। अपनी बौद्धिक, शारीरिक और आर्थिक क्षमता से जो महिलाएं ऐसा कर सकने की स्थिति में हों वर्तमान परिस्थितियों में वे स्त्री समाज और सम्पूर्ण समाज में आभामय रत्न की तरह समादृत होंगी। लेकिन हमें यह भी मानना होगा कि यह राष्ट्रीय और सामाजिक अर्थ व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है कि उसमें स्त्रियां पुरुषों से अलग अपना एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करें। यह तो निर्विवाद है कि समाज के शरीर की सघटित रचना की वे उसी प्रकार अभिन्न अवयव हैं जिस प्रकार पुरुष हैं, परन्तु जिस पद पर आसीन होकर उन्हें अपना कार्य करना है वह उसके समान होते हुए भी उससे भिन्न है, यद्यपि वह उतना ही—बल्कि उससे भी ज्यादा—महत्वपूर्ण है।"

महिलाओं के लिए एक अलग विश्वविद्यालय विषयक प्रोफेसर कर्वे के प्रस्तावों और उनकी योजना से लोगों में बड़ी रुचि पैदा हुई। जितनी ही उनकी आलोचना हुई उतना ही उत्साहपूर्ण स्वागत भी हुआ। पर जिनकी स्त्री शिक्षा के काम में अभिरुचि थी, उन्हें इससे विचार करने की यथेष्ट सामग्री मिली। सामाजिक सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिए गए प्रोफेसर कर्वे के भाषण की प्रतियां बांटी गई और वे बहुत दूर-दूर तक पहुंची। लगभग दो महीने बाद ब्रैडफोर्ड के गर्ल्स ग्रामर स्कूल की प्रधानाध्यापिका मिस मार्गरेट ई० राबर्ट्स का उन्हें एक पत्र मिला। उन्होंने टीचर्स एसोसिएशन के सदस्यों में वितरित करने के लिए उनके लिए उनके भाषण की डेढ़ सौ प्रतियां मांगी थीं। मिस राबर्ट्स ने यह भी लिखा था कि भाषण को अगर फिर से छपवाने की जरूरत पड़ी तो मैं उसका खर्च देने को भी तैयार हूं।

बम्बई से लौटने के बाद प्रोफेसर कर्वे ने तुरन्त अगला कदम उठाया। उन्होंने फर्गुसन कालेज के मित्रों की एक अनौपचारिक बैठक बुलाई। जो लोग बैठक में आए उनमें से डा० परांजपे और श्री हरिभाऊ आप्टे ने कुछ और लोगों के साथ मिल कर महिला विश्वविद्यालय की योजना के प्रति असहमति प्रकट की। प्रोफेसर के० आर० कानिटकर तथा प्रोफेसर एच० जी० लिमये ने इस विचार का हार्दिक स्वागत किया तथा कुछ और लोग भी थे जो कोई निर्णय न कर सके।

बैठक में तय हुआ कि योजना को कार्यान्वित किया जाना चाहिए और उसका उद्देश्य महाराष्ट्र में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना होना चाहिए। यह भी तय हुआ कि ग्रेजुएट मतदाताओं के दो अलग निर्वाचक वर्ग हों—एक उनका जो 10 रुपया सालाना चन्दा या 300 रुपया दान में देते हैं और दूसरे उनका जो पांच रुपया वार्षिक चन्दा या 150 रुपये का दान देते हैं।

प्रोफेसर कानिटकर इस योजना के सबसे उत्साही समर्थक थे। उन्होंने बैठक के तुरन्त बाद तीन सौ रुपए दान स्वरूप दे दिए।

इस परिकल्पना का क्या अन्तिम स्वरूप होगा, यह तय करना आसान नहीं था। मित्रों और समर्थकों ने तरह-तरह के सुझाव दिए। उनमें से ज्यादातर सुझाव कई बातों में एक दूसरे के विपरीत थे। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद के शिक्षा सदस्य सर शंकरन नायर इस योजना के प्रति सहानुभूति रखते थे, लेकिन उन्होंने कहा कि इसके चालू हो कर कुछ प्रगति कर लेने के बाद ही मैं सरकारी सहायता देने की सम्भावना पर विचार कर सकूंगा। प्रोफेसर कर्वे जब सर शंकरन नायर से मिलने वाराणसी गए तो इस सुयोग का लाभ उठा कर वह डा० एनी बेसेंट से भी मिले। उन्होंने उनको सलाह दी कि आप महिला विश्वविद्यालय को अखिल भारतीय रूप दें। किन्तु प्रस्तावित विश्वविद्यालय की बात सुनकर उन्हें खुशी हुई और प्रोफेसर कर्वे को 150 रुपये दान स्वरूप दिए। डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रस्ताव में बहुत अभिरुचि दिखाई। उन्हें यह विचार विशेष पसन्द आया कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगा। उन्होंने प्रोफेसर कर्वे को सलाह दी कि सरकारी मान्यता पाने के चक्कर में अधिक समय नष्ट न करें। उन्होंने लिखा, "आरम्भ में उसको पाने के लिए याचना करने से कहीं ज्यादा अच्छा है अन्त में वह आपको स्वयं मिले।"

शैफील्ड विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० एच० ए० एल० फिशर पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य के रूप में जब भारत आए तो वे भी विधवा भवन देखने गए। उनके कथनानुसार 'भारत में स्त्री शिक्षा के लिए

महिला विश्वविद्यालय की स्थापना आपके उत्तम काय का गौरव मंडित शीष मुकुट बनेगा।" उन्होंने संस्थापक की सफलता की हार्दिक कामना की और यह भी कहा—"निस्संदेह आपको बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, लेकिन आपका नैतिक साहस निश्चित रूप से उन्हें पार कर लेगा।"

प्रोफेसर कर्वे ने अन्य लोगों को पत्र लिखते समय भारत के महान मित्र सर विलियम वेडरबर्न को कोई पत्र नहीं भेजा। असल में उनसे व्यक्तिगत रूप से मिलने का उन्हें कभी अवसर ही न मिला था। अखबारों में कुमारी एवरेस्ट की वसीयत के बारे में समाचार पढ़ कर उन्हें सर विलियम को पत्र लिखने का ख्याल आया। कुमारी एवरेस्ट हिमालय के उच्चतम गिरि शिखर माउंट एवरेस्ट के अन्वेषक की पुत्री थी। अपनी वसीयत में उन्होंने लिखा कि कुछ विशेष दान देने के बाद मेरी सारी बची हुई सम्पत्ति भारत की किसी ऐसी शिक्षण संस्था को दे दी जाए जो सरकारी तंत्र से स्वतंत्र रह कर काम करती हो। अगर ट्रस्टी किसी भी वर्तमान संस्था से संतुष्ट न हों तो वे एक नई संस्था स्थापित कर सकते हैं। कर्वे ने सोचा कि सर विलियम ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनसे अनुरोध किया जा सकता है कि वे जांच पड़ताल कर के सलाह दें कि क्या महिला विश्वविद्यालय की ओर से औपचारिक आवेदनपत्र भेजा जा सकता है। उन्होंने विधवा भवन तथा विश्वविद्यालय सम्बन्धी कागज पत्र भेजते हुए उनसे अनुरोध किया कि आप जरूरी जांच पड़ताल करें। सर विलियम वेडरबर्न ने अपने 19 जुलाई 1916 के पत्र में लिखा

"आपने जो मुद्रित साहित्य भेजा था उसे मैंने अत्यन्त रुचि और सहानुभूति से पढ़ा। आप पूरा विश्वास रखें कि आपने जो महत्वपूर्ण काम हाथ में लिया है, उसके निमित्त मैं जो कुछ भी कर सकता हूं, करूंगा।"

जिस समय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, लगभग उसी समय सरकार ने स्त्री शिक्षा के बारे में प्रमुख व्यक्तियों की सलाह मांगी थी। प्रोफेसर कर्वे के एक मित्र ने जिन्हें महिला विश्वविद्यालय बनाने का विचार पसन्द नहीं था, 25 जून 1916 को अपने विचार व्यक्त करते हुए सरकार

को एक पत्र लिखा। उन्होंने उसकी एक नकल सर विलियम वेडरबर्न को भी भेजी। सर विलियम ने उन्हें जो उत्तर दिया, उसका एक अंश उन्होंने प्रोफेसर कर्वे को भेजा। सर विलियम ने लिखा था

'मैं स्वीकार करता हूं कि प्रोफेसर कर्वे के महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के साहसिक प्रयत्न के प्रति मेरी सहानुभूति है। यह एक महत्त्वपूर्ण साहसिक काम हो सकता है लेकिन ऐसा साहसिक कदम उठाए बिना कोई बड़ा मोर्चा नहीं लिया जा सकता। क्योंकि अब उसे उठाने का उपाय हो रहा है इसलिए मैं चाहता हूं कि महिलाओं की उच्च शिक्षा के सभी विचारशील हितैषी उसका समर्थन करें।"

सर विलियम वेडरबर्न भारत के उद्धार के लिए व्यवस्थित रूप से काम करते थे और इसके लिए उन्होंने 'इंडिया बेनेफिट फंड' नामक एक निधि का उपयोग किया। उनकी मृत्यु के बाद जब इस फंड का अंतिम हिसाब कर के भुगतान हुआ तो श्री पोलक ने 150 पौंड विधवा भवन को और 100 पौंड महिला विश्वविद्यालय को भेजे थे।

इन सन्देशों, शुभ कामनाओं और आश्वासनों से प्रोफेसर कर्वे को पर्याप्त प्रोत्साहन तो मिलता ही था, साथ ही उनका मनोबल भी बढ़ता था। इस योजना के विरुद्ध टीका टिप्पणी के बावजूद यही मनोबल उनको अपनी शान्ति बनाए रखने में सहायक होता था। 'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादक ने निरंतर उनका जैसा तीव्र और दृढ़ विरोध किया, उससे उन्हें विशेष दुःख हुआ। 27 फरवरी 1916 को श्री नटराजन ने लिखा

"अपनी आत्यंतिक निष्ठा और त्याग से उन्होंने (प्रोफेसर कर्वे ने) पूना के हिन्दू विधवा भवन को वह रूप दिया जो उसको आज प्राप्त है, वह जो भी योजना सोचेंगे, यदि वह सफल नहीं भी हो पाएगी तो भी कम से-कम उससे उनका अपना तथा बाकी लोगों का ध्यान उनके वर्तमान काम से हट कर नए काम की ओर गम्भीरता से आकर्षित होगा जिससे इस समय एक ढर्रे पर होने वाली प्रगति में बाधा पड़ सकती है। हम नहीं समझते कि यह नई योजना सफल होगी। इसे सफल होना भी नहीं

चाहिए। इसका यदि कोई परिणाम होगा तो यही कि उससे लोगों में आपसी मतभेद बढ़ेगा और सुस्थिर तरीकों से होने वाली प्रगति स्थगित होगी।"

ऐसा नहीं था कि स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में प्रोफेसर कर्वे जो कुछ कर रहे थे उसके प्रति श्री नटराजन की सहानुभूति नहीं थी अथवा वह उसके प्रशंसक नहीं थे। लेकिन कर्तव्य रूप से वह अनुभव करते थे कि "हम इसमें (प्रोफेसर कर्वे के नए प्रयास में) निश्चित शब्दों में अपना अविश्वास प्रकट करें।" उन्हें निश्चय था कि "प्रोफेसर कर्वे का आशय उत्तम होते हुए भी अंततोगत्वा यह नया प्रयास स्त्री शिक्षा के मार्ग में अलध्य रुकावट बन कर खड़ा होगा।"

प्रोफेसर कर्वे के मन में अपने सबसे कटु आलोचकों के लिए भी द्वेष नहीं था। उनको विश्वास था कि वे लोग उनकी आलोचना उत्कृष्ट अभिप्राय से प्रेरित होकर करते हैं। अतः वह उनके कहे या लिखे प्रत्येक शब्द पर ध्यान देते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि उससे शिक्षा मिलती है। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है

"मैं सहानुभूतिपूर्ण बातों से न तो अपने को उस श्लाघा का पात्र मान कर संतुष्ट होता था न अभिमान से भरता था और न कभी आलोचना से निराश होता था। मैं विवेकपूर्वक अपने मन को संतुलित रखने की यथेष्ट कोशिश करता था।"

महात्मा गांधी के पूना आने पर प्रोफेसर कर्वे उनसे मिले। महात्मा गांधी ने कहा कि आप कुछ दिनों बाद बम्बई आ कर मुझ से मिलें। प्रोफेसर कर्वे ने अपने नए विचार उन्हें समझाए। उन्होंने उसे पसन्द किया। उन्हें मातृभाषा को उच्च शिक्षा का भी माध्यम बनाने का विचार विशेष अच्छा लगा। लेकिन उन्हें यह बात अरुचिकर लगी कि अंग्रेजी को एक अनिवार्य विषय के रूप में रखा जाए। महात्मा जी का यह निश्चित मत था कि अंग्रेजी को उच्च शिक्षा में भी ऐच्छिक विषय के रूप में ही रखना चाहिए। प्रोफेसर कर्वे इस बात से सहमत न हो सके। उन्होंने नम्रतापूर्वक उनसे कहा,

दौरा किया । पार्वती बाई कर्नाटक गई, जहां उन्होंने बेलगांव, धारवाड़, हुबली, गडग और बीजापुर जैसी जगहों की यात्रा की। एक अन्य कार्यकर्त्री कुमारी कृष्णाबाई ठाकुर ने मध्य भारत का दौरा किया।

चार महीनों के अन्दर उन लोगों ने ग्रेजुएट निर्वाचक वर्ग के लिए लगभग 12 सौ सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त कर ली।

अप्रैल में पूना लौट कर प्रोफेसर कर्वे ग्रेजुएट निर्वाचक वृन्द में से सीनेट के चुनाव की तैयारियों में लग गए। सीनेट के साठ सदस्य चुने गए। उनमें पांच महिलाएं थीं।

सीनेट की पहली बैठक होने से पहले प्रोफेसर कर्वे को विश्वविद्यालय के कुलपति और उपकुलपति पद के लिए व्यक्तियों को ढूंढना था। कुलपति के पद के लिए कर्वे अपने पुराने मार्गदर्शक और परामर्शदाता डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का ही नाम सोच सके। उन्हें थोड़ा सन्देह था कि वह यह पद स्वीकार करेंगे या नहीं। खासकर इसलिए कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादक जैसे लोग इस योजना के विरोध में टीका टिप्पणियां कर रहे थे। सशंक हो कर वह प्रोफेसर दिवेकर को साथ लेकर उस अनुभवी पण्डित से मिलने उनके लोनावला स्थित पर्वतीय निवास पर गए। सर नारायण चन्दावरकर भी उस समय लोनावला में ही थे। पहले प्रोफेसर कर्वे उन्हीं से मिले। फिर उन्हें साथ लेकर वह डा० भंडारकर के पास गए। पहले तो ऐसा लगा कि अपनी अस्सी वर्ष की वयोवृद्धता में उनकी मनःस्थिति इस समय इस पद को स्वीकार करने की नहीं है। लेकिन सम्भवतः अन्त में जिस बात का उन पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा वह प्रोफेसर कर्वे के उस कार्य के प्रति अपना व्यक्तिगत प्रशंसा का भाव था जिसे प्रोफेसर कर्वे लगभग पिछले बीस वर्षों से उन्हीं के निर्देशन में करते रहे थे। उनको प्रभावित करने के लिए यह कोई कम बात न थी। प्रोफेसर कर्वे अपने उद्देश्य में सफल रहे और पूना लौट आए।

दूसरे पद को ग्रहण करने के लिए उन्होंने श्री श्रीनिवास शास्त्री से अनुरोध किया। इस सम्मानपूर्ण अनुरोध को अस्वीकार करते हुए शास्त्री जी

ने आश्वासन दिया कि मैं इसके लिए डा० परांजपे को राजी करूंगा। डा० परांजपे इस योजना के प्रतिकूल पहले ही अपना मत व्यक्त कर चुके थे। इसलिए प्रोफेसर कर्वे स्वयं उनसे बात नही कर सकते थे। लेकिन जब डा० परांजपे स्वयं आए और ग्रेजुएट निर्वाचको की सूची मे उन्होने अपना नाम लिखा कर इस नए प्रयास के निमित्त पाच सौ रुपयो का दान भी लिख दिया तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। इसलिए डा० परांजपे को उपकुलपति का पद स्वीकार करने के लिए राजी करने मे शास्त्री जी को कठिनाई नहीं हुई। महिला विश्वविद्यालय के सीनेट की पहली बैठक पूना मे 3 और 4 जून, 1916 को हुई।

नौ महीनो से भी कुछ कम समय पहले प्रोफेसर कर्वे के पास अचानक जापान के महिला विश्वविद्यालय की एक विवरण पत्रिका ने आ कर उनके मन मे सरसो के दाने जैसा छोटा एक महिला विश्वविद्यालय के विचार का बीज बोया था। उसने इस छोटी सी अवधि मे उनके अथक परिश्रम और मित्रो के सहयोग के कारण भूमि में पक्की जड पकड ली थी। इस प्रयास की प्रारम्भिक सफलता के लिए प्रोफेसर कर्वे बहुत से मित्रो और हितैषियो के कृतज्ञ थे। लेकिन उनमे भी जो सबसे पहला व्यक्ति था, उससे वह चार बरसो तक अनजान रहे। तब तक यह अज्ञात रहस्य ही रहा कि उस विवरण पत्रिका को भेजने वाला कौन था जिसमे उनके जीवन के आगामी वर्षों के लिए इतनी सम्भावनाए निहित थी। वह पत्रिका उन्हे अगस्त 1915 की एक सुबह मिली थी।

प्रोफेसर कर्वे अपनी वार्षिक रिपोर्टों में उस विवरण पत्रिका का उल्लेख करना कभी नही भूले। इन वार्षिक रिपोर्टों की कोई प्रति अथवा उनकी मुद्रित अपील अवश्य ही बनारस के बाबू शिवप्रसाद गुप्त के हाथो मे पहुची होगी। उन्होने 1919 मे प्रोफेसर कर्वे को लिखा कि 1915 मे मैं कलकत्ता के अपने एक मित्र विनयकुमार सरकार के साथ जापान की यात्रा पर गया था। जब हम वहा के महिला विश्वविद्यालय मे गए तो हमे जो कुछ देखने को मिला, उससे हम बडे प्रभावित हुए। हमने वहा की विवरण-पत्रिका की

जापान दर्शन प्रतिदिन बढ़ती ओर जा रहे हैं। इन्होंने उन आदमियों के नाम भेज दिया जिनके बारे में उन्हें मालूम था कि वे शिक्षा के क्षेत्र में विशेषकर स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। इन्हीं में प्रो. (डॉक्टर कर्वे) भी थे और उन्होंने हिंगणे स्थित संस्था के बारे में इनसे सुन रखा था।

3 जून 1916 को भारतीय महिला विश्वविद्यालय के विचार ने एक रूप और एक नाम धारण किया।

एस०एन०डी० ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय

1916 में जून के अंतिम सप्ताह में नव-स्थापित महिला विश्वविद्यालय ने प्रवेश की परीक्षा ली। इसमें हिंगने के महिलाश्रम की छः लड़कियां शामिल हुईं। उनमें से चार ने सफलता प्राप्त की। उन्हें कालेज के प्रथम वर्ष की कक्षा में दाखिल कर लिया गया। कालेज का नाम 'महिला पाठशाला' रखा गया था। महिला पाठशाला की पांचवीं छात्रा रेवती केतकर थीं। उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की थी।

सीनेट ने स्वयं प्रोफेसर कर्वे को कालेज का पहला प्रिंसिपल नियुक्त किया। 6 जुलाई 1916 से कालेज का काम चालू हो गया।

कालेज के प्रिंसिपल का काम संभालने के लिए प्रोफेसर कर्वे का हिंगने में बना रहना आवश्यक था। लेकिन वह जानते थे कि विश्वविद्यालय और कालेज के लिए धन-संग्रह करने, उसके काम का दूर-दूर तक प्रचार करने और उसके लिए सहायता जुटाने में उनकी सेवाएं अधिक उपयोगी होंगी। अतः प्रोफेसर कर्वे ने नारायण महादेव आठवले को कालेज का प्रिंसिपल नियुक्त कर दिया और विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार का कार्यभार हरि रामचन्द्र दिवेकर को सौंप दिया। वह स्वयं एक बार फिर हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निकल पड़े। वे नगर नगर और एक जिले से दूसरे जिले में जाने लगे। भारत का शायद ही कोई भाग ऐसा रहा हो, जहां वे न गए हों। जहां-कहीं भी गए, उन्होंने वहां के लोगों से विश्वविद्यालय सम्बन्धी बातें कीं और उनकी सहानुभूति प्राप्त की।

अपनी स्थापना के चार वर्षों में अन्त में भारतीय महिला विश्वविद्यालय के पास सब खर्च चुकाने के बाद 2,16,041 65 रुपये बचे। यह प्रोफेसर

कर्वे के अथक परिश्रम का परिणाम था । वह सभी वर्गों के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने म सफल हुए थे । उनमे से कुछ ही धनाढ्य हितैषी थे । बाकी सब मध्यम वग के थे ।

विश्वविद्यालय के आरम्भ के चार वर्षों म पढाई लिखाई का काम बड़ा ढीला रहा उत्साहवधक नहीं था । कालेज के प्राध्यापकों म योग्य और अनुभवी अध्यापक तो थे लेकिन छात्राओं की सख्या बहुत कम थी । वह बीस से अधिक हुई ही नहीं । 1919 मे विश्वविद्यालय स सवप्रथम केवल एक छात्रा ग्रेजुएट हो कर निकली । 1920 म यह सख्या बढ कर तीन हो गई ।

उन्होंने अपनी आत्मकथा मे लिखा है 'इससे अधिक अच्छे परिणाम न दिखला सकना विश्वविद्यालय के सस्थापकों की अक्षमता का द्योतक था । निस्सदेह परिस्थितिया ऐसी थी कि इस अपराध का गाम्भीय घट जाता था क्योंकि विश्वविद्यालय को कई बाधाओं का सामना करना पडता था । महिला विश्वविद्यालय को सरकारी मा यता प्राप्त नहीं थी और उसके सर्टीफिकेटो और डिग्रियों की बाजार में कोई कीमत नहीं थी । अत स्वर्गीय सर विट्ठलदास ठाकरसी के दान के बावजूद विश्वविद्यालय को उल्लेखनीय प्रगति करने म कई वष लग गए ।'[1]

'मुझे सन्देह है कि विश्वभर म कहीं भी केवल मध्यम वग और उच्च मध्यम वग के भरोसे कोई विश्वविद्यालय खोला गया हो । जापान में 1895 मे यह विचार श्री नारुसे के मन मे आया था । उन्होंने पाच वष तक इसके लिए क्षेत्र तैयार किया और 1900 में वास्तविक काय आरम्भ किया । वहा भी वह सरकार पर निभर नहीं थे (और वह विश्वविद्यालय अब भी सरकार से स्वतत्र रह कर ही काय कर रहा है) लेकिन उन्हें वहा के राज परिवार से तथा धनिक वग से सहायता मिली थी । जापान एक स्वतत्र देश है जहा के लोगों में राष्ट्रीय भावना विकसित है । वहा के लोग दासवत अनुकरण करने से घृणा करते हैं । अत श्री नारुसे का माग उतना कठिन

1 लुकिंग बैक, पृष्ठ 123-124 ।

नही था जितना भारत मे हम लोगों का था। हमारे यहा सरकारी तन्त्र से स्वतत्र रह कर विश्वविद्यालयो की स्थापना के कई प्रयास किसी न किसी कारण से असफल हो चुके थे। किंतु इस प्रयास को यदि किसी अधिक सक्षम कार्यकर्ताओ ने अपने हाथ में लिया होता तो यह अधिक सफल हो सकता था। बहरहाल, मैंने भरसक कोशिश की। मैं इन चार वर्षों मे बराबर प्रचार काय और धन सग्रह मे लगा रहा। इन चार वर्षों के अत मे तमाम खच काटकर हम 2,16 000 रुपये बचा सके थे। यह अधिकतर 3½ प्रतिशत सरकारी ऋणपत्रो के रूप में थी। इसके लिए मैंने देश के एक से दूसरे छोर तक यात्रा की। महत्वपूण स्थानो पर गया और हजारो लोगो से मिला, जिनसे कभी कभी मुझे एक रुपये से कम की राशि भी मिली। किन्तु, इससे इस काय के प्रति मध्यम वग की सहानुभूति भी जागत हुई।"

विश्वविद्यालय की मद प्रगति और स्वय छात्राओ मे कमी देख कर प्रोफेसर कर्वे को दुख हुआ। कुछ लडकिया, जो महिला पाठशाला मे जाने के लिए महिला आश्रम में भर्ती हुई थी, बाद मे हुजूरपागा के गल्स स्कूल मे चली गई। ऐसा उन्होने इस कारण किया कि बाद में उन्हे यह पता चला कि विश्वविद्यालय की परीक्षाओं और डिग्रियो को सरकारी मान्यता प्राप्त नही है।

प्रोफेसर कर्वे निराश नहीं हुए। काम अच्छा था और उनका विश्वास था कि इसे सफलता मिलेगी। वह हिम्मत नही हारे और अपना काम करते रहे। उन्हे इस विचार से सान्त्वना होती कि इस प्रकार के विश्वविद्यालय की एक बडी जरूरत थी — किसी भी सावजनिक काय की जरूरत थी—जो सतोषजनक रूप से पूरी हो रही है। उनके द्वारा धन के लिए जब आवेदन होता था तो लोगों में उसकी सतोषप्रद प्रतिक्रिया होती थी। उन्हे अपनी यात्राओ की उपलब्धियों से निराश होने का कोई कारण नही दीखता था। उन्हे अप्रत्याशित दिशाओ से सहायता और सहानुभूति प्राप्त होती थी। उन्हे लगा कि यह शगुन बडा आशाप्रद है।

उन्होने सर विलियम वेडरबन को पत्र लिखा कि यदि मिस एवरेस्ट की

सम्पत्ति में से विश्वविद्यालय को कुछ धन मिलने की सम्भावना हो तो वह पता लगाए। प्रथम विश्व युद्ध के कारण विलायत में उनकी जमा की हुई पूंजी की लागत का अवमूल्यन हो चुका था और किसी भारतीय विश्वविद्यालय के लिए मिस एवरेस्ट की सम्पत्ति में से कुछ भी नहीं बच रहा था। बहरहाल इस दिशा में प्रोफेसर कर्वे को दूसरे रूप में सफलता प्राप्त हुई। प्रोफेसर कर्वे भारतीय नारियों के लिए जो कुछ कर रहे थे, उसके प्रति सर विलियम वेडर बर्न की सहानुभूति और उत्साह इतना जगा कि उन्होंने 'इंडिया' नामक साप्ताहिक पत्र में उन कार्यों का एक संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कराया और यद्यपि कुमारी एवरेस्ट की निधि से वे प्रोफेसर कर्वे की कोई सहायता नहीं कर पा रहे थे पर अपनी ओर से उन्हें तीन सौ रुपए भेजे। श्रीमती हेनरी फासेट के अनुरोध पर उन्होंने भारतीय महिला विश्वविद्यालय के बारे में 'जस सफाजी' में एक लेख भी लिखा और उसकी कुछ विज्ञान लगी प्रतियां इंगलैंड के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों के पास भेजीं। उनमें लार्ड मार्ले, लार्ड ब्राइस, लार्ड रीये और भारत के वाइसराय तथा बंगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नर भी थे।

अपनी किसी भी संस्था के लिए एक भी पैसा पा कर प्रोफेसर कर्वे को हार्दिक कृतज्ञता होती। यद्यपि वह प्रत्येक व्यक्ति के कृतज्ञ थे, लेकिन उनकी कृतज्ञता तब और बढ़ जाती जब उन्हें किसी सीमित साधनों वाले मित्र से सहायता प्राप्त होती। ऐसे मित्रों में एक युगांडा के डा० विट्ठल राघोबा लाडे थे। अफ्रीका जाने से पहले वह विधवा भवन में आए थे। वहां उनकी एक रिश्तेदार रहती थी। डा० लाडे का अफ्रीका में 30 मार्च 1917 को देहान्त हो गया। उसके पांच ही दिन पहले उन्होंने अपनी वसीयत को अंतिम रूप दिया था। इस वसीयत के अनुसार उन्होंने 'कर्वे महिला विश्वविद्यालय (अथवा पूना की इस संस्था को जो भी नाम दिया जाए)" के ट्रस्टियों को भारत में अपना ट्रस्टी बनाया था।

डा० लाडे की वसीयत के अनुसार अफ्रीका में उनके ट्रस्टियों ने प्रोफेसर कर्वे को 40 000 रुपए भेजे। उनकी बूढ़ी मां, उनकी दो पत्नियों तथा सम्बन्धियों ने बड़ी उदारता दिखाई और इस धन राशि का एक बड़ा भाग

महिला विश्वविद्यालय को दे देने मे किसी प्रकार की बाधा खड़ी नहीं की। प्रोफेसर कर्वे को जो राशि मिली, उससे पूना मे कन्याशाला के लिए एक भवन बनवाया गया। उसका नामकरण डा० बिट्ठल राघोबा लाडे के नाम पर किया, जिन्होंने अपनी संचित धनराशि का एक सबसे बड़ा अंश प्रोफेसर कर्वे द्वारा सम्पाद्यमान शुभ कार्य के लिए दिया था। अपनी योजना की धीमी गति से निराश हुए बिना एवं आलोचनाओं की उपेक्षा करके प्रोफेसर कर्वे, जो भी सहायता और सहानुभूति उन्हें मिली, उसको कृतज्ञतापूर्वक लेते हुए आगे बढ़ते रहे। ज्यों ज्यों निष्ठा और विश्वास के साथ वह अपनी धुन मे लगे हुए चलते जा रहे थे त्यों त्यों उनके प्रयासों का उनके कटुतम आलोचकों के मन पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता चला। भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के एक वर्ष बाद, 8 जुलाई 1917 को 'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादकीय स्तम्भ मे निम्नलिखित टिप्पणी छपी

"प्रोफेसर कर्वे के महिला विश्वविद्यालय का जो स्वागत हो रहा है उसमे सम्मिलित होकर हमे प्रसन्नता हो रही है और हम आशा करते हैं कि यह प्रयोग सफल होगा। स्त्री शिक्षा को उपलब्ध कराने के साधनो की आवश्यकता इतनी अधिक विशाल है कि किसी भी एक योजना अथवा प्रक्रिया के साथ अपनी समस्त निष्ठा को नत्थी कर देना मूर्खतापूर्ण होगा। यह निश्चय करने के लिए कि देश की वर्तमान स्थिति मे कौन सी योजना सर्वोत्तम और अधिक उपयोगी होगी, अनगिनत और बार बार किए गए प्रयोगों की आवश्यकता है।"

'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादक द्वारा प्रोफेसर कर्वे की लगन की यह सराहना असामान्य थी। कुछ समय पहले उन्होंने उनकी योजना पर बड़ी कटु और तीक्ष्ण भाषा मे आक्षेप किया था। तब उनका कहना था कि 'प्रोफेसर कर्वे के उत्तम इरादों के बावजूद, यह नया प्रयास स्त्री शिक्षा के मार्ग मे अलंघ्य बाधा बन जाएगा" और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपना अविश्वास व्यक्त करने पर अपने को बाध्य बताया था। अब सोलह महीनों के बाद उन्होंने आगे बढ़कर यह स्वीकार किया कि "किसी एक योजना अथवा प्रक्रिया के साथ अपनी निष्ठा को नत्थी कर देना मूर्खतापूर्ण है।"

1918 के आरम्भ से ही सर्वत्र हार्दिक इच्छा प्रकट की जाने लगी कि इस वर्ष के 18 अप्रैल को उनका 61 वां जन्म दिन मनाया जाए और इस तरह देश की महिलाओं का दर्जा ऊंचा उठाने के लिए लगभग चौथाई शती तक किए गए उनके कामों के लिए देश के स्त्री और पुरुष उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करें। सर्वत्र उनके प्रति प्रेम और सम्मान की सार्वभौम अभिव्यक्ति के बीच यह समारोह मनाया गया। मुख्य उत्सव पूना में हुआ जिसका सभापतित्व डा० रामकृष्ण जी० भंडारकर ने किया। इसके अतिरिक्त पूना और बम्बई की महिलाओं ने अलग आयोजन किए। बम्बई में महिलाओं की सभा में अध्यक्षता डा० काशीबाई नौरंग ने की। इस सभा में भारतीय महिलाओं की ओर से प्रोफेसर कर्वे को एक थैली और एक मानपत्र भेंट किया गया। मानपत्र में प्रोफेसर कर्वे के पुरोगामी पथप्रदर्शक प्रयासों तथा उनकी लगन के लिए उनका अभिनन्दन किया गया। उनका इकसठवें जन्म दिवस पर सम्मान करते समय महिलाओं के सामने वे सब परिवर्तन प्रत्यक्ष थे जो प्रोफेसर कर्वे के पिछले पचीस वर्षों के कार्यरत जीवन में भारतीय समाज में खास तौर से भारतीय महिलाओं की स्थिति में आए। उस मानपत्र में न केवल उनकी महिलाओं के उद्धार के लिए महान सेवाओं का उल्लेख था, बल्कि उन आरम्भिक दिनों का भी वर्णन था जब वह फर्गुसन कालेज में काम करते थे और साथ ही आश्रम की स्थापना की भूमिका तैयार कर रहे थे और उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। मानपत्र में यह तथ्य स्वीकार किया गया था कि यह प्रोफेसर कर्वे के सफल प्रयत्न और उनके कार्यों का परिणाम है कि अब स्वयं महिलाओं के लिए यह सम्भव हो सका है कि वे अपने कल्याण और अज्ञान से छुटकारा पाने का काम अपने हाथों में लें।

'मासिक मनोरंजन' के एक विशेषांक का प्रकाशन इन समारोहों की एक विशेष घटना थी। इसी पत्रिका के सम्पादक काशीनाथ रघुनाथ मित्र ने 1915 में प्रोफेसर कर्वे की आत्मकथा भी प्रकाशित की थी। अब इस अवसर पर उन्होंने ही यह विशेषांक प्रकाशित किया। कई दृष्टियों से यह विशेषांक अद्वितीय था। इसमें महिला भवन, महिला विद्यालय और महिला विद्यापीठ के संस्थापक के जीवन और कार्य सम्बन्धी लेख थे। इसमें ऐसे लेख भी थे,

जिनमें स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विविध समस्याओं, उनकी सामाजिक मर्यादा और उनमें बीसवीं शती के आरम्भ से हो रही सामान्य जागृति सम्बन्धी विषयों पर विचार व्यक्त किए गए थे। बंगलौर की एक सामाजिक कार्यकर्त्री श्रीमती श्रीरंगम्मल ने प्रोफेसर कर्वे को राजा राममोहन राय, रानाडे, विवेकानन्द और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे महान व्यक्तियों की कोटि में रखा था। श्री नटराजन ने प्रोफेसर कर्वे के प्रति संक्षिप्त किन्तु भावभीने श्रद्धासुमन अर्पित किए। उन्होंने कहा कि महिला विश्वविद्यालय के विषय में, अथवा जब तक वे आश्रम में रहे तब तक अनाथ बालिकाश्रम की विधवाओं के पुनर्विवाह पर लगाए गए प्रतिबन्ध इत्यादि के विषय में, मेरा प्रोफेसर कर्वे से मतभेद रहा लेकिन इससे उनके द्वारा सम्पन्न महान कार्यों का मूल्यांकन करने में कोई बाधा मेरे सामने नहीं आती, और मैं कह सकता हूँ कि इन उपलब्धियों ने उनको उस सम्माननीय स्थान का अधिकारी बना दिया है, जहाँ बहुत कम भारतीय पहुँच सके हैं। प्रोफेसर कर्वे के ममेरे भाई डा० आर० पी० परांजपे ने (जो उन्हें तीस से भी अधिक वर्षों से निकट से जानते थे) लिखा कि यद्यपि प्रोफेसर कर्वे सारे भारत के लिए शक्ति के स्तम्भ हो गए हैं, लेकिन अपने सम्बन्धियों के घनिष्ठ दायरे में अब भी वही पुराने अण्णा बने हुए हैं। हमारे लिए उन्हें एक महान पुरुष समझना असम्भव है, क्योंकि वह अपने व्यवहार में और हमारे देखने-सुनने में उतने ही सीधे-सादे हैं जितना कि बीस साल का धोंडू था, जो चालीस साल पहले मुरुद छोड़ कर इगलिश स्कूल में भर्ती होने के लिए बम्बई आया था।

प्रोफेसर कर्वे के कई मित्र महिलाओं के लिए किए गए उनके कार्यों की प्रशंसा करते थे पर उनकी महिला विश्वविद्यालय की परियोजना को स्वप्न-तुल्य ही मानते थे जिसका सम्पादन होना असम्भव प्राय है। अगर महिलाओं के लिए अलग से एक विश्वविद्यालय बनाने का विचार उनकी स्वैर कल्पना थी तो अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के लिए पार्वती बाई आठवले को इंग्लैंड भेजने का विचार तो उससे भी अधिक विलक्षण सनक थी।

एक बार उनके मन में कोई विचार आया नहीं कि वह निष्प्रयोजन न

रह सकते थे और तुरन्त उसे कार्यान्वित करके मूतरूप देना चाहते। इस विचार के मन मे आने और अपने तदनुकूल कम करने के सकल्प के बारे में प्रोफेसर कर्वे ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है

"यह मनुष्य की असमर्थता है कि वह सारे प्रयत्न असफल हो जाने के बाद भी परित्यक्त आशा की एक झलक के पीछे दौडता रहता है। मानव स्वभाव की इस विशेषता का मैं अपवाद नही था। अब मुझे एक ही विकल्प दीखता था—वह आखिरी था और सबसे कठिन भी। वह यह था कि पार्वती बाई को इग्लैंड या अमरीका भेज दिया जाए, जहा उन्हें दिन भर सिर्फ अंग्रेजी ही बोलनी पडे। यदि इस घटनाक्रम का दु खपूर्ण अन्त भी होता तो भी मैं इस दु खान्त नाटक का अतिम पटाक्षेप देखना चाहता था जहा दारुण विपत्ति का विनिपात हो।"

5 अक्तूबर 1918 को वह छियालीस वर्षीया महिला, जो अब तक दादी भी बन चुकी थी, अंग्रेजी सीखने जापान हो कर अमरीका के लिए चल पड़ी।

विधवा भवन के 1920 के वार्षिक विवरण मे प्रोफेसर कर्वे ने लिखा

"अच्छी तरह जानते हुए भी कि छियालीस वय की एक स्त्री के लिए विदेश-यात्रा अधेरे मे छलाग लगाने से कम न होगी, पार्वतीबाई यात्रा के लिए तैयार हो गई। उनके पास आपात व्यय का भार सहन करने योग्य कोई आर्थिक साधन नही था जिस पर वह भरोसा करतीं। फिर भी आश्रम के फंड से उ होने एक पैसा भी नही लिया। मैंने उनको ऐसे सकटों का सामना करने के लिए तैयार कर लिया था जिनका सामना मैं स्वय न कर पाता। मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा निणय वह मेरे प्रोत्साहन से ही कर पाई और अब मैं यह भी स्वीकार करता हू कि उन्हे उस तरह प्रोत्साहित करना मेरे लिए बडा निष्ठुर काय था। बहरहाल, मुझे इस बात का सन्तोष है कि यह सब मैंने इसलिए किया क्योंकि मुझे ऐसा लगा कि पार्वतीबाई में साधारण लोगो से अलग कुछ असामान्य उत्कृष्ट गुण है और वे तभी फलेंगे जब कुछ असामान्य परिस्थिति मे कष्टकर परीक्षण करके उनका उन पर प्रभाव पडेगा।"

प्रोफेसर कर्वे के इकसठवें जन्मदिवस पर बम्बई तथा महाराष्ट्र की स्त्रियों ने उन्हें पचीस सौ रुपयों की एक थैली भेंट की थी। प्रोफेसर कर्वे ने दो सौ रुपये अपनी ओर से मिला कर वह सारी रकम पार्वतीबाई को उनके खर्च के लिए दे दी। वह जानते थे कि बहना के द्वारा यह बहुमूल्य राशि जिस लिए दी गई थी उसे वह अन्यत्र किसी ऐसे काम में खर्च करने जा रहे थे जिसके परिणाम वे अभी देख नहीं पाए थे। अतः उन्होंने निश्चय किया कि इसे मैं स्वयं लिया हुआ एक ऋण समझूंगा और किसी उचित काम में लगाने के लिए सूद सहित इसे वापस करूंगा।

लगभग बीस महीने बाहर रह कर पार्वतीबाई भारत लौटीं। अमरीका में रहते हुए उन्होंने विधवा भवन के लिए धन संग्रह भी किया और जो धन वह अपने साथ लाईं, उसका 'अमेरिका स्कालरशिप फंड' के नाम से एक अलग कोष बना दिया गया। पार्वतीबाई ने विदेश में रहते हुए अंग्रेजी बोलने का कुछ अभ्यास तो कर लिया था, लेकिन वह निपुणता स्थायी नहीं थी। जिस उद्देश्य से वह अमरीका गई थीं, वह पूरा नहीं हुआ। फिर भी वहां जाना बिल्कुल व्यर्थ नहीं हुआ। जो धन वह एकत्रित कर सकीं एवं जो अनुभव उन्हें प्राप्त हुए तथा विदेश के बहुत से स्थानों में जो कठिनाइयां उन्हें उठानी पड़ीं, उनसे उनका मस्तिष्क विचारसम्पन्न और दृष्टिकोण प्रशस्त हुआ। लौटने के बाद वह फिर मनोयोगपूर्वक भवन के काम में जुट गईं।

प्रोफेसर कर्वे साठ वर्ष के हो चुके थे। अब वह परिपक्व वयोवृद्ध व्यक्ति थे। पर क्या वे थक गए थे? बीस साल तक निरंतर कठोर परिश्रम करने के बाद कोई उनसे अधिक अच्छी परिस्थितियों में रहने वाला तथा उनसे अधिक सशक्त व्यक्ति भी यदि यह कहता कि मैं अवकाश ग्रहण करना चाहता हूं, तो वह स्वाभाविक होता। लेकिन अगर किसी ने प्रोफेसर कर्वे से ऐसा कहा होता या वह स्वयं अपने से कहते कि अब विश्राम करने का समय आ गया है तो फौरन उनके अन्दर अवश्य कहीं से विद्रोह भभक उठता। इसका कारण था कि उनमें एक दुर्दम्य भावना थी—जीने की, परिश्रम करने की और सेवा करने की। 18 अप्रैल 1918 को जिन असंख्य स्वरों ने प्रार्थना की कि प्रोफेसर

कर्वे शतायु हो, वास्तव मे उनकी निष्ठा सत्य सम्पन्न थी।

बम्बई का एक दूसरा नाम है—उदारता। बम्बई का यह नामकरण करने वालो मे सर विटठलदास डी० ठाकरसी भी एक थे। वह एक उद्योग पति और व्यापारी थे और ठाकरसी घराने के मुखिया थे। एक सफल और समृद्ध व्यवसायी होने के साथ ही यद्यपि वस्त्रोद्योग मे उनकी गणना प्रथम श्रेणी के उद्योगपतियो मे थी पर वह अधिक प्रसिद्ध उदारतापूर्ण दान देने के लिए थे।

1917 मे इस विशालहृदय व्यक्ति ने प्रोफेसर कर्वे के महिला विश्वविद्यालय को अपनी मा के नाम पर एक छात्रवृत्ति देने के लिए एक हजार रुपये दिए। अगले साल उन्होंने फिर एक हजार रुपये दिए और हर साल इतनी ही रकम देने का वचन दिया।

1919 मे सर विटठलदास ने सर एम० विश्वेश्वरैया और सेठ मूलराज खटाऊ आदि कुछ मित्रों के साथ विश्वयात्रा पर जाने की योजना बनाई। चूंकि लेडी ठाकरसी और दो अन्य महिलाए भी उन लोगो के साथ जानेवाली थीं, सर विटठलदास ने प्रोफेसर कर्वे को पत्र लिख कर उनसे अनुरोध किया कि वह अपनी किसी सस्था से उन लोगों के लिए एक योग्य सहचारी ढूढ दें।

प्रोफेसर कर्वे ने श्रीमती सीताबाई अग्निहोत्री की सिफारिश की। वे एक तरुण विधवा थीं जो बारह साल पहले आश्रम मे आई थी। इस समय वे पूना मे महिला विश्वविद्यालय के कालेज की छात्रा थीं। प्रेमलीला बाई लेडी ठाकरसी को यह तरुणी पसन्द आई, क्योकि वह बुद्धिमती थी और जिस काम के लिए चुनी गई थी, उसके लिए खासी चुस्त थी।

इस दल ने पहले पूर्वी देशो की यात्रा की। जब ये लोग जापान मे रुके तो सर विटठलदास ने तोक्यो के महिला विश्वविद्यालय को खास तौर से देखने का निश्चय किया। वहा जा कर उन्होंने देखा कि विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कालेजों और स्कूलो मे छात्राओ की सख्या सत्रह सौ है। इनमें से करीब सात सौ छात्राए विश्वविद्यालय के छात्रावासों मे रहती थी। विश्वविद्यालय और

उससे सम्बद्ध संस्थाओं के काम का सर विटठलदास के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से खास तौर से प्रभावित हुए। इस पाठ्यक्रम में गृह उद्योग, धुलाई का काम और बागबानी इत्यादि सम्मिलित थे। अमरीका जाते हुए उन्होंने जापान में जो-कुछ देखा था, अपने मित्रों से उसके बारे में विचार विमर्श किया और श्रीमती अनिगेरी से हिंगने के महिला विश्वविद्यालय के बारे में अनेक सवाल पूछे। उन्हें इस बात को जानने की विशेष इच्छा थी कि विश्वविद्यालय के काम के लिए प्रोफेसर कर्वे को पर्याप्त संख्या में कमठ कार्यकर्त्ता मिल पाए हैं या नहीं।

जापान में उन्होंने जो कुछ देखा और फिर श्रीमती अनिगेरी से जो-कुछ सुना, उसके परिणामस्वरूप उनके मन में प्रोफेसर कर्वे के प्रयोग को जापान की संस्था के ढंग पर आगे बढ़ाने के विचार उठने लगे।

जब ये लोग भारत लौटे तो पोतघाट में उनका स्वागत करने के लिए जाने वालों में प्रोफेसर कर्वे भी थे। सर विटठलदास ने प्रोफेसर कर्वे से कहा कि पूना लौटने से पहले आप मुझसे मिलें। उसी दिन तीसरे पहर प्रोफेसर कर्वे जब उनसे फिर मिले, तब विटठलदास ने उनसे कहा कि मैं भारतीय महिला विश्वविद्यालय के बारे में कुछ प्रस्तावों पर बातचीत करना चाहूंगा।

कुछ सप्ताह बाद प्रोफेसर कर्वे महाबलेश्वर में सर विटठलदास ठाकरसी से फिर मिले। इस बार उनके साथ डा० परांजपे और फर्गुसन कालेज के प्रिंसिपल कानिटकर भी थे। वे लोग काफी देर तक विचार विमर्श करते रहे। इसके बाद सर विट्ठलदास ने प्रोफेसर कर्वे से कहा कि मैं कुछ शर्तों पर विश्वविद्यालय को 15,00,000 रुपये देना चाहता हूं। यह कुछ ऐसी बात थी, जिसकी प्रोफेसर कर्वे ने आशा नहीं की थी।

थोड़े ही समय बाद प्रोफेसर कर्वे के पास उनका औपचारिक प्रस्ताव आया। प्रस्ताव के साथ कुछ शर्तें भी थीं। उनमें से एक में मुताबिक विश्व विद्यालय तथा उसके द्वारा चलाए जानेवाली संस्थाओं का नाम सर विटठल-दास की माता श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी के नाम पर रखना था। एक शर्त यह भी थी कि विश्वविद्यालय की सीनेट की बैठकें बम्बई में ही हों'

सिंडिकेट की बैठकें चाहे पूना में या बम्बई में होती रहें। तय यह हुआ कि सर विट्ठलदास सीनेट के लिए पांच सदस्यों को मनोनीत करेंगे और उनके बाद यह काम ठाकरसी घराने का सबसे ज्येष्ठ पुरुष करेगा। इसके अलावा विश्वविद्यालय को या तो सरकारी मान्यता प्राप्त करनी होगी या सर विट्ठलदास के दान की राशि के बराबर बाहर से धन इकट्ठा कर लेना होगा। जब तक ये शर्तें पूरी न हो जाएं, तब तक विश्वविद्यालय को 52,500 रुपये प्रति वर्ष दिए जाते रहेंगे, जो दिए गए धन का ब्याज होता है। इन शर्तों के पूरी होने के बाद विश्वविद्यालय को पन्द्रह लाख रुपये की मूल राशि भी सौंप दी जाएगी।

इस बातचीत के पूरा होते ही हिंगने के महिला विश्वविद्यालय का नाम 'श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी भारतीय महिला विश्वविद्यालय' हो गया। विश्वविद्यालय ने कालेज को भी अपने अन्तर्गत लिया और उस कन्या शाला को भी ले लिया जिसकी स्थापना आश्रम के ही एक आजीवन कार्यकर्ता प्रोफेसर जी० एम० चिपलूणकर ने पूना में की थी। अब तक उसका संचालन हिंगने के हिन्दू विधवा एसोसिएशन की सामान्य देखरेख और नियन्त्रण में होता रहा था।

सर विट्ठलदास ठाकरसी ने विश्वविद्यालय के कार्यों में और उसका समर्थन करने में व्यक्तिगत रुचि ली। उनकी पसन्द से पूना कालेज के नए भवन निर्माण के लिए एक उपयुक्त जगह चुनी गई। जमीन खरीदने के लिए रुपया जो जरूरत पड़ी उसे भी सर विट्ठलदास ने ही पूरा किया। भवन निर्माण के लिए भी उन्होंने बिना सूद के 1,50 000 रुपये और दिए।

सर विट्ठलदास की तरह उनके मित्र सेठ मूलराज खटाऊ भी काफी उदार थे और अच्छे कामों में सहायता देने को तत्पर रहते थे। वह थोड़े समय के लिए पूना आए थे। प्रोफेसर कर्वे ने जब उस धनी सज्जन के पूना आने की खबर सुनी तो वह उनसे मिलने गए। आश्रम के एक आजीवन कार्यकर्ता महादेव भी उनके साथ थे।

जब वे उस बंगले के अहाते में पहुंचे, जिसमें सेठ मूलराज ठहरे थे, तो

उन्होंने देखा कि एक शालीन व्यक्ति, साधारण-सी पोशाक पहने बंगले के बरामदे में बैठा है।

वे दोनों उसके पास गए तो बरामदे में बैठे उस सज्जन ने पूछा कि आप कौन हैं।

"हम लोग सेठ मूलराज से मिलने आए हैं।"

"आप उनसे क्यों मिलना चाहते हैं ?"

"हम लोग अपनी संस्था के बारे में उनसे बातें करने तथा उनकी सहायता और समर्थन लेने आए हैं।"

"कृपया आप चले जाइए। मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सकता।"

अब उन्हें पता चला कि वह स्वयं सेठ मूलराज थे। बिना कुछ और बोले प्रोफेसर कर्वे लौट पड़े और प्रोफेसर महादेव ने भी उनका अनुसरण किया। जब वे फाटक के पास पहुंचे तो प्रोफेसर महादेव ने सेठ मूलराज के परिवार के एक सदस्य को वहां खड़े देखा। उन्होंने उसके कान में बताया कि उनके साथ आए व्यक्ति प्रोफेसर कर्वे हैं। वह व्यक्ति दौड़ कर सेठ मूलराज के पास यह बताने गया। प्रोफेसर कर्वे और प्रोफेसर महादेव को तुरन्त वापस बुला लिया गया। उनसे बहुत क्षमा मांगते हुए सेठ मूलराज ने उनका स्वागत किया। जब वे बंगले से लौटे, तब उनकी जेब में 35,000 रुपये का दान था। इससे एस० एन० डी० ठाकरसी कालेज का छात्रावास बनाने का आधा खर्च जुट गया।

एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय के संस्थापक के लिए अब यह सम्भव हो गया था कि वह विश्वविद्यालय के उपयोगी कार्यकलापों का क्षेत्र विस्तृत करें। पहला जो काम प्रोफेसर कर्वे ने हाथ में लिया, वह था नए स्कूलों की स्थापना करना और दूसरों के द्वारा चलाए जानेवाले मौजूदा स्कूलों को अपने विश्वविद्यालय से सम्बद्ध करना।

जो पहला स्कूल सम्बद्ध किया, वह प्रोफेसर विपलूणकर की पूनावाली कन्याशाला थी। सर विट्ठलदास की इच्छा थी कि विश्वविद्यालय एक स्कूल

बम्बई मे चलाए और यदि सम्भव हो तो उसमे गुजराती और मराठी के दो विभाग होने चाहिए। प्रोफेसर कर्वे अपने एक मित्र लक्ष्मण राव नायक को साथ लेकर चदारामजी गर्ल्स हाई स्कूल के अधिकारियो और गजानन भास्कर वैद्य से मिले। श्री गजानन भास्कर वैद्य उस समय एक छात्र पुस्तकालय और साइंटिफिक सोसायटी का गर्ल्स हाई स्कूल चलाते थे। इनमें से एक भी स्कूल को एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कराने के प्रयत्न मे उन्हें सफलता नहीं मिली, अत उन्होने स्कूल खोलने का निश्चय किया। श्री नायक छोटे मुकदमो की अदालत से अवकाश-प्राप्त कर चुके थे। अत उन्होने स्कूल में अवैतनिक रूप से उसके निरीक्षण का काम करना स्वीकार कर लिया। स्कूल का नाम रखा गया श्रीमती नाथबाई दामोदर ठाकरसी कन्याशाला। श्री नायक के काम मे मदद देने के लिए श्रीमती पार्वतीबाई आठवले बम्बई आ गई। कुछ समय बाद श्रीमती सीता बाई अग्निगेरी स्कूल की सुपरिटेंडेंट नियुक्त की गइ। इनके आने से श्री नायक और श्रीमती आठवले, दोनों को वहा से छुट्टी मिल गई।

बम्बई के वनिता विश्राम ने प्रसन्नतापूर्वक एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय के साथ अपने स्कूल को सम्बद्ध करना स्वीकार कर लिया। कुछ मित्रो के आमन्त्रण पर प्रोफेसर कर्वे सतारा गए। 1922 की दीवाली की छुट्टियो मे कार्यारम्भ किया गया। उनके साथ श्रीमती कमलाबाई देशपाडे भी गई थीं। उन्होने 1920 मे नए विश्वविद्यालय से गृहीतागम (कला स्नातक) की परीक्षा पास की थी। सतारा आने के कई दिनो बाद, भाऊबीज दिवस (भ्रातृ द्वितीया) पर, उन्होंने एक कन्या पाठशाला की स्थापना की। श्रीमती देशपाडे उसकी अध्यक्ष बनाई गई।

जल्दी ही बेलगाव और सागली मे भी ऐसा हुआ। पाच बरसों के अन्दर एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय की कन्याशालाओं का महाराष्ट्र के पूना, बम्बई, सतारा, बेलगांव, सागली, वाई और शोलापुर जैसी जगहों में जाल बिछ गया। स्थानीय जनता ने उन स्कूलों को चलाने और उनके लिए धन एकत्र करने का जिम्मा लिया। यह सब उन लोगों ने प्रोफेसर कर्वे की

निगरानी और उनकी प्रेरणा से किया।

थोड़े ही समय बाद प्रोफ़ेसर कर्वे ने यह अनुभव किया कि केवल महाराष्ट्र की महिलाओं के लिए वहां विश्वविद्यालय स्थापित करने का सीमित प्रयास न केवल स्त्रियों को उच्च शिक्षा दिलाने के उच्च आदर्श की दृष्टि से अत्यन्त संकीर्ण है, बल्कि इस दृष्टि से भी वह परिमित है कि देश के अन्य भागों में भी इसी तरह की सुविधा की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। विश्वविद्यालय तो उसी समय अखिल भारतीय रूप धारण कर चुका था जब उसका नाम भारतवर्षीय महिला विद्यापीठ रखा गया था जिसे बाद में बदल कर श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी भारतीय महिला विश्वविद्यालय कर दिया गया था।

स्त्री केलवणी मण्डल ने अहमदाबाद में गुजरात महिला पाठशाला की स्थापना की। 1920 में इस मण्डल ने निश्चय किया कि अपने छात्रों को मट्रिकुलेशन की परीक्षा के लिए बम्बई विश्वविद्यालय न भेज कर वे अपने ही यहां स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट की परीक्षा लेंगे। इस परीक्षा में तीन लड़कियां शामिल हुई और तीनों ही सफल हुई। उन्हें नवस्थापित गुजरात महिला पाठशाला में प्रवेश मिल गया। वह पाठशाला एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थी।

सूरत का महिला विद्यालय 1922 में सम्बद्ध हुआ और बड़ोदा के महारानी गर्ल्स हाई स्कूल ने उसका अनुसरण किया। भावनगर में महिला विद्यालय की स्थापना 1925 में हुई। वह 1927 में एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यायय से सम्बद्ध हो गया।

कुछ ही वर्षों में एस० एन० डी० ठाकरसी के रजिस्ट्रार अपनी वार्षिक रिपोर्ट में यह कह सके

"महिलाओं के लिए एक अलग विश्वविद्यालय की आवश्यकता अब एक विचाराधीन विषय नहीं है अब तो इसे सफल बनाने के अथक प्रयास हो रहे हैं।"

प्रोफ़ेसर कर्वे विश्वविद्यालय का संगठन करते रहे। उनके व्यक्तिगत प्रयासों और प्रभाव के कारण ही बम्बई और सतारा, सांगली तथा

की कन्याशालाएं महिला विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुई थी। वह विधवा भवन के आजीवन कार्यकर्ताओ तथा विश्वविद्यालय की स्नातिकाओं को इन स्कूलों में सामान्य वेतन पर काम करने के लिए प्रवृत्त कराने मे सफल हुए। इनमें से अधिकतर स्कूल माध्यमिक शिक्षालयो के रूप में प्रारम्भ किए गए थे और हर साल एक एक दर्जा बढ़ाते हुए कुछ ही वर्षों मे उन्होने हाई स्कूल का रूप धारण कर लिया था।

यह विश्वविद्यालय का सौभाग्य था कि उसे डा० सर रामकृष्ण भंडारकर तथा डा० आर० पी० परांजपे जैसे विशिष्ट विद्वान और शिक्षाशास्त्री तथा सर माधव जीवाल, सर लल्लूभाई शाह और सर चुनीलाल मेहता जैसे सार्वजनिक जीवन मे अग्रणी लोग उसके कार्यों को बढ़ावा देने के लिए गए थे।

मैट्रिक की परीक्षा चार भाषाओं मे होती थी--मराठी, गुजराती, सिंधी और तेलुगु, लेकिन कालेज मे केवल पहली तीन भाषाएं ही पढ़ाई जाती थी। जो लड़कियां विद्यालय न आकर व्यक्तिगत रूप से एकांतिक अध्ययन करती थी, उन्हे भी मैट्रिक तथा अन्य ऊंची परीक्षाओ मे शामिल होने की इजाजत दी जाती थी।

1927 मे 'इंडियन सोशल रिफार्मर' के सम्पादक को भी जो पहले महिलाओ के लिए एक अलग विश्वविद्यालय के पक्ष मे नही थे, अन्त मे यह स्वीकार करना ही पड़ा कि हिंगने का महिला विश्वविद्यालय अपने अस्तित्व के लिए जिस व्यक्ति के आत्मत्याग और उत्साह का ऋणी है, उन प्रोफेसर कर्वे का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण सारे देश के समाज सुधारक सदा करते रहेंगे।

श्री नटराजन मद्रास मे अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन में अध्यक्ष पद से बोल रहे थे। उन्होने कहा

"हमारे देश मे विगत कई शताब्दियो से महिलाओ मे बौद्धिक हीनता की एक प्रकार की परम्परा स्थापित हो चुकी है। अतः वर्तमान स्थिति मे जब तक वह परम्परा पूरी तरह नष्ट नही हो जाती, कम से कम तब तक यह आवश्यक है कि पुरुषों और स्त्रियों के पाठ्यक्रम मे, विशेषतः उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में, कोई भेद न रखा जाए।"

इसके साथ ही उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा कि "शिक्षा की प्रत्येक पद्धति और प्रत्येक प्रणाली का जिससे लड़कियों और स्त्रियों को शिक्षा का किसी प्रकार का लाभ पहुंचने की आशा है और जिसके न होने पर वे उन लाभों से वंचित रहें, हमें स्वागत करना चाहिए। इस दृष्टि से महिला विश्वविद्यालय एक बहुमूल्य और रोचक प्रयोग है।"

प्रोफेसर कर्वे के प्रयोग के विरुद्ध आलोचकों की मुख्य आपत्ति का कारण यह था कि उसमें शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त स्त्रियों के लिए अलग पाठ्यक्रम का निर्धारण था। दूसरी उतनी ही जोरदार आपत्ति यह थी कि कोई भी विश्वविद्यालय जिसमें अध्यापन का माध्यम मातृभाषा को बनाया जाए स्त्रियों की उच्च शिक्षा के लिए हितकर नहीं हो सकता। इन दोनों प्रश्नों के बारे में प्रोफेसर कर्वे के मन में कोई सन्देह नहीं था। विश्वविद्यालय की स्थापना के पहले ही उन्होंने यह स्पष्ट कहा था कि वे यह तो मानते थे कि कुछ ऐसी भी स्त्रियां हैं और सदा रहेंगी जो पुरुषों के क्षेत्र में ही उन्हें पराजित कर सकेंगी और वर्तमान विश्वविद्यालयों में मिलने वाले पुरस्कारों और सम्मानों के लिए उनका मुकाबला करेंगी। फिर भी उनका विचार था कि बहुसंख्यक स्त्रियों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो उन्हें उस पद के योग्य बना सके, जिसको उन्हें संभालना पड़ेगा और वह पद पुरुषों के पद से सर्वथा भिन्न होगा। उनका विश्वास था कि अध्यापन के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। उनका यह विश्वास ठोस शैक्षणिक सिद्धान्तों पर आधारित था, क्योंकि मातृभाषा सहज और स्वाभाविक होती है अतः शिक्षा प्राप्त करने का वही सर्वोत्तम साधन है। अतः समय समय पर उठाई जानेवाली इस तरह की आपत्तियों से वह अपने मन को कभी विचलित नहीं होने देते थे। यह और भी अधिक संख्या में लड़कियां तथा स्त्रियों का महिला विश्वविद्यालय में भर्ती होना पसन्द करते, लेकिन वह जानते थे कि उसकी परीक्षाओं और डिग्रियों को सरकारी मान्यता प्राप्त न होने के कारण छात्राओं की संख्या बहुत कम रहेगी। अतः विश्वविद्यालय को सरकार की मान्यता जब तक प्राप्त नहीं हो पाती तब तक उन्होंने अपने ऊपर जिस प्रयोग की जिम्मेदारी ली थी, उसको आगे बढ़ाने के लिए उन्हें अपने तथा सहयोगियों के प्रयत्नों तथा उस

काम की अच्छाई पर ही निर्भर रहता था।

शिक्षित जनता की ओर से सहायता और उत्साह की कमी न थी। 1927 मे पूना मे अखिल भारतीय महिला शिक्षा सम्मेलन का पहला अधिवेशन हुआ। सम्मेलन ने लडकियों को ऐसी शिक्षा देने के विचार का हार्दिक समर्थन किया, जो उनमे मातृत्व और समाज सेवा के भाव को विकसित कर सके। सम्मेलन ने सरकार से अनुरोध किया कि यह भारतीय महिला विश्व विद्यालय जैसी उन शिक्षण सस्थाओ को मान्यता दे, 'जो इस सम्मेलन के द्वारा समर्थित माग पर चलकर शैक्षणिक प्रयोग कर रही हैं।"

महिला विश्वविद्यालय के अच्छे काम का बम्बई प्रेसिडेंसी के शिक्षा विभाग ने भी अनुमोदन किया। 1925 26 की उसकी रिपोर्ट मे कहा गया

"पूना के महिला विश्वविद्यालय से बम्बई प्रेसिडेंसी के बहुत से स्कूल सम्बद्ध हैं। उनमें से कुछ स्कूल इस विभाग द्वारा स्वीकृत है। इन स्कूलो की एक विशेषता यह है कि वे अपने पूरे पाठयक्रम मे अग्रेजी को छोडकर और सभी विषय मातभाषा के माध्यम से पढाते है।"

शिक्षा विभाग की वार्षिक रिपोर्ट मे प्रोफेसर कर्वे के कार्यों की प्रशसा इन शब्दो मे की गई थी

"स्त्री शिक्षा के कार्यों मे, विशेषत वयस्कों की शिक्षा के कार्यों मे एक ओर प्रोफेसर डी० के० कर्वे और दूसरी ओर श्री जी० के० देवधर के प्रयत्न प्रशसनीय हैं। तीस वर्ष पहले की प्रोफेसर कर्वे की छोटी-सी बस्ती ने अब भारतीय महिलाओं के लिए एक पूर्ण विकसित विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसमे शिक्षा का माध्यम मातभाषा बनाई गई है और इसका लक्ष्य है कि लडकियों के पाठयक्रम का निर्धारण उनकी विशेष आवश्यकताओं और स्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाए और उनका आचरण और रहन सहन भारतीयों का सा अकृत्रिम और सादगी का बना रहे। इन सारी बातों पर वहा विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।"

अध्याय 15

यात्राएं और कसौटी

1893 मे जब विधवा विवाह समिति की स्थापना हुई, तब प्रोफेसर कर्वे सारे भारत की यात्रा कर रहे थे और प्राय सभी नगरों और कस्बों मे गए थे। कुछ वर्षों तक वह समिति की ओर से व्याख्यान-यात्राओ पर भी जाते रहे। 1896 मे अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना हो जाने पर आश्रम के लिए धन-सग्रह करते हुए गर्मी तथा सर्दी की छुट्टिया का उपयोग भी इन्ही यात्राओ के लिए करते। यह उनकी एक आदत-सी बन गई थी जो तब तक भी वैसी बनी रही, जब वह साठ की उम्र भी पार कर गए। उनके लिए विभिन्न स्थानो पर जाना और विभिन्न लोगो से मिलना इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि ऐसा करके ही वे एस० एन० डी० ठाकरसी विश्व विद्यालय के लिए धन सग्रह कर सकते थे और नए स्कूलो की स्थापना करके अथवा उनसे पुराने स्कूलो को सम्बद्ध करके उसका कार्यक्षेत्र बढा सकते थे।

जब तक वह सत्तर वर्ष के नही हुए थे, उन्होने भारत छोड़कर विदेश यात्रा का विचार नही किया था। पार्वतीबाई आठवले उन्ही के सुझाव से विदेश गई थीं। वह वहा अनुभव समृद्ध हो कर और अपने दृष्टिकोण को विशाल बनाकर लौटी थी। अपने अमरीका और इग्लैंड के प्रवासकाल मे उन्होंने विधवा भवन के लिए धन सग्रह भी किया था।

प्रोफेसर कर्वे के मन मे बराबर विश्वविद्यालय के भविष्य का विचार बना रहता। उन्हें लगता कि इसके लिए मुझे शिक्षित भारतीयो की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने के लिए निरतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। विश्वविद्यालय और उसके उद्देश्यो के अधिकाधिक प्रचार के लिए अनेक प्रकार की बातें सोचते हुए एक बार उनके मन में आया कि यदि मैं इग्लैंड जाऊं तो

यहाँ भारत के विभिन्न भागों से उच्च शिक्षा के लिए गए बहुत से तरुणों से भेंट हो सकती है। विश्वविद्यालय जो उपयोगी काम कर रहा है, यदि उसकी छाप मैं उनके मन पर डाल सकूं तो हो सकता है वे भारत वापस लौटने पर अपने लोगों में उसका प्रचार करें। यहां विश्वविद्यालय के लिए धन संग्रह करने की वैसी सम्भावना भी थी जैसी पारनेरबाई ने अपनी अमरीका यात्रा में विधवा भवन के लिए खोज ली थी।

उनके मित्रों और सहयोगियों ने उनके इस विचार को अधिक पसन्द नहीं किया। उनका कहना था कि आपकी उम्र के आदमी के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा। उन्होंने उनको भरसक रोकने का प्रयत्न किया।

प्रोफेसर कर्वे स्वयं ऐसा नहीं समझते थे कि यह कोई खतरनाक कदम है। उनके सबसे छोटे पुत्र भास्कर इंग्लैंड के लीडस विश्वविद्यालय म थे और उनकी शिक्षा लगभग पूरी होने को थी। भास्कर वहां रहने और अपने पिता के साथ यूरोप तथा अमरीका की यात्राओं पर उनके साथ जाने को तैयार थे। प्रोफेसर कर्वे के तीसरे पुत्र दिनकर की पत्नी इरावती बर्लिन में थी और आश्रम के आजीवन कार्यकर्ता प्रोफेसर एच० आर० दिवेकर भी पेरिस में थे। उन लोगों की सहायता से वह आसानी से विदेशों में यात्रा कर सकते थे। प्रोफेसर कर्वे ने दो अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलनों के बारे में भी सुना था। वे उसी साल होने वाले थे—एक जेनेवा में और दूसरा एल्सिनोर म। उन्हें उनमें सम्मिलित होने से संसार के विभिन्न भागों में शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवाले लोगों से मिलने का सुयोग भी मिल सकता था।

एस० एन० डी० टी० विश्वविद्यालय की सिंडिकेट ने प्रोफेसर कर्वे का कार्यक्रम स्वीकार करके उनके खर्च के लिए 5000 रुपया की स्वीकृति दे दी। सिंडिकेट के इस निर्णय को, जिसे सीनेट ने भी स्वीकार कर लिया था, प्रोफेसर कर्वे ने एक शुभ शकुन माना।

16 मार्च 1929 को उन्होंने पी० एड ओ० के जहाज 'एस० एस० रावलपिंडी' से बम्बई से प्रस्थान किया। जहाज पर वह अकेले नहीं थे। आश्रम की एक आजीवन कार्यकर्त्री, श्रीमती कमलाबाई देशपांडे भी उसी म यात्रा

कर रही थी। वह अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए विदेश यात्रा कर रही थी। एक अन्य मित्र जो इस यात्रा में बड़े सहायक सिद्ध हुए वह थे हैदराबाद के केशवराव वकील। मार्सेल्स में दिवेकर उनसे मिले और 1 अप्रैल को वे लोग लंदन पहुंच गए।

पहले साढ़े तीन महीने इंग्लैंड में बीते। यहां यथासम्भव प्रोफेसर कर्वे भारतीयों और अंग्रेजों से मिले और ऐसे प्रत्येक अवसर पर उनसे महिला विश्वविद्यालय की चर्चा की। अंग्रेजों को उन्होंने भारत में उत्पन्न सामाजिक तथा शिक्षा की समस्याएं समझाईं और शिक्षित भारतीयों द्वारा उनको हल करने के लिए किए जा रहे प्रयत्नों की भी चर्चा की। कुछ प्रचारकों ने इंग्लैंड तथा अन्य पश्चिमी देशों में कई गलत धारणाएं उत्पन्न कर दी थीं, जहां तक हो सका, उन्होंने उन्हें भी दूर करने की कोशिश की।

मालवन में उन्होंने प्राथमिक शिक्षकों के एक सम्मेलन में भाग लिया। वहां उनकी भेंट 125 महिला शिक्षकों तथा कुछ पुरुष शिक्षकों से हुई। सम्मेलन में विचार विमर्श के लिए चुना गया विषय था "शिक्षा के नए आदर्श"। उसमें प्रोफेसर कर्वे से "भारत में स्त्री शिक्षा" के बारे में बोलने का आग्रह किया गया। अपने व्याख्यान में उन्होंने महिलाओं की शिक्षा को आगे बढ़ाने के लिए भारत में प्रारम्भ किए गए अनेक आन्दोलनों की संक्षेप में चर्चा की और एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय के बारे में विस्तार से बताया। उनके भाषण के बाद थोड़ा सा चंदा भी इकट्ठा हुआ।

सैनडाउन में प्रोफेसर कर्वे ने एक सप्ताह आनन्द के साथ बिताया। वहां विभिन्न वर्गों, जातियों और सम्प्रदायों के 125 भारतीय एक सम्मेलन में एकत्रित हुए थे, जिनमें स्त्री पुरुष-बच्चे सभी शामिल थे।

श्री पोलक तथा अन्य मित्रों ने प्रोफेसर कर्वे के लिए लंदन में लोगों से सम्पर्क स्थापित करने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार की एक सभा ईस्ट इंडियन एसोसिएशन की ओर से कैक्स्टन हाल में लेडी साइमन की अध्यक्षता में हुई। वह अपनी भारत यात्रा में एस० एन० डी० ठाकरसी विश्वविद्यालय देख चुकी थीं। प्रोफेसर कर्वे ने "भारत में स्त्री शिक्षा" पर एक निबन्ध पढ़ा। इसके

बाद उस पर बड़ा उत्तेजक विचार विमर्श हुआ जिसमें अंग्रेजों और भारतीयों दोनों ने भाग लिया।

पेरिस में प्रोफेसर दिवेकर ने अपने परिचित कुछ मोतियों का व्यापार करने वाले भारतीयों की सहायता से चंदा इकट्ठा किया। वहां पर आयोजित एक प्रीतिभोज की गोष्ठी में प्रोफेसर कर्वे तथा कुछ अन्य लोगों ने भाग लिया। प्रोफेसर कर्वे ने धन के लिए निवेदन किया। लोगों का अनुदान बहुत उत्साहवर्धक रहा।

जेनेवा में 25 जुलाई से 4 अगस्त तक सम्मेलन हुआ। उसमें विश्व के विभिन्न भागों से आए हुए लगभग 1,500 प्रतिनिधि उपस्थित थे। सामान्यतः लोकप्रिय विषयों पर भाषण और विचार-विमर्श के अलावा उसमें अलग-अलग विभागों की विशेष बैठकें भी हुईं। प्रोफेसर कर्वे "महिलाओं की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय प्रयोग" पर बोले। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल ने एशिया के देशों के प्रतिनिधियों की एक अलग बैठक का आयोजन किया। इस सभा में निश्चय किया गया कि भारत में शिक्षा विषयक एक एशिया का क्षेत्रीय सम्मेलन किया जाए।

जेनेवा में सम्मेलन समाप्त होने के बाद थोड़े ही दिनों में प्रोफेसर कर्वे शिक्षाविदों के दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए एल्सिनोर गए। सम्मेलन 8 से 21 अगस्त तक होने वाला था। इसका आयोजन "न्यू एजुकेशन फेलोशिप द्वारा हुआ जिसमें सारे विश्व के 2,000 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। उन्होंने बच्चों को आत्मशिक्षण की सुविधाएं देने के लिए बहुविध नवीनतम प्रयोगों के विषय में विचार-विमर्श किया। इस सम्मेलन से प्रोफेसर कर्वे बहुत प्रभावित हुए, विशेषतः इसलिए कि इसका सारा आयोजन अधिकतर महिलाओं ने किया था। एल्सिनोर की अध्यक्षा श्रीमती बीट्रिस एन्सोर एक अत्यन्त योग्य महिला थीं।

जेनेवा सम्मेलन में प्रोफेसर कर्वे की मुलाकात एक भारतीय शिक्षाविद श्री आर० वी० गोगटे से हुई। वह सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमरीका से आए थे। श्री गोगटे ने प्रोफेसर कर्वे की अमरीका यात्रा की व्यवस्था का

सारा भार अपने ऊपर ले लिया। न्यूयार्क में प्रोफेसर कर्वे इंटरनेशनल हाउस में ठहरे। उसी भवन में लगभग सभी देशों के पांच से छः सौ तक छात्र रहते थे। न्यूयार्क में रहने वाले भारतीयों ने उनका अत्यन्त उत्साहपूर्वक स्वागत किया और उन्हें 400 डालर की थैली भेंट की।

जहां भी वे गए सर्वत्र उन्होंने लोगों को भारत के बारे में जानकारी पाने को बहुत उत्सुक पाया। उन्होंने बहुत सी जगहों पर व्याख्यान दिए। उनके भाषण 'भारत में स्त्री शिक्षा' या 'भारत में समाज सुधार' इन दोनों में से किसी भी विषय पर हुआ करते थे।

अपनी अमरीका यात्रा पूरी करके प्रोफेसर कर्वे जापान गए। वहां तोक्यो का महिला विश्वविद्यालय देखने के लिए वे विशेष उत्सुक थे। डा० आसो ने प्रोफेसर कर्वे और उनके साथ के लोगों का सहृदय स्वागत किया। यह विश्वविद्यालय के संस्थापक श्री नरुसे के मित्र और सहयोगी थे। प्रोफेसर कर्वे को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि यद्यपि 1923 के भूकम्प में विश्व विद्यालय को महान क्षति हुई फिर भी उसके काम अबाध गति से चल रहे थे। यहां का सारा काम अस्थायी झोंपड़ियों में चल रहा था और स्थायी भवन का निर्माण फिर से हो रहा था।

तेरह महीनों की यात्रा करके प्रोफेसर कर्वे अप्रैल 1930 में भारत लौटे। विश्वविद्यालय के लिए उन्होंने 27 हजार रुपये एकत्र कर लिए थे, जबकि यात्रा का सारा खर्च केवल 12,700 रुपया हुआ था। उन्हें प्रसन्नता थी कि उनकी विश्व यात्रा का आर्थिक बोझ विश्वविद्यालय पर बिल्कुल नहीं पड़ा। इस यात्रा के बारे में प्रोफेसर कर्वे ने अपनी आत्मकथा 'लुकिंग बैक' में लिखा है

'सर्वांगीण दृष्टि से देखा जाए तो मेरी धारणा है कि हम लोगों की विश्व यात्रा पर्याप्त सफल रही। सर्वप्रथम मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा और मैंने अपना एक भी कार्यक्रम रद्द नहीं किया। समय की कमी के कारण अमरीका में हम प्रायः रात में यात्रा करते थे और वहां अत्यन्त ठंड में आवश्यकता पड़ने पर आधी रात गाड़ियां बदलने में भी मैंने कोई हिचकिचाहट नहीं की।

दूसरी बात यह थी कि हम लोग विश्व भर के कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिल सके और उनमें से अनेकों के साथ हमने घंटों सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों पर बातें कीं। तीसरे यह है कि भारत के बारे में कुछ नवीन पुस्तकों ने जो भ्रांतियां उत्पन्न की थीं, हम पर्याप्त मात्रा में उन्हें दूर कर सके। मेरे कई व्याख्यानों के बाद प्रायः जो प्रश्न पूछे गए वे भारत की सामाजिक प्रथाओं के बारे में झूठी और बढ़ा चढ़ा कर कही गई बातों से सम्बद्ध होते थे। चौथे, मेरी यात्रा से विश्वविद्यालय को यद्यपि कोई आर्थिक क्षति नहीं हुई, लेकिन यदि मैं भारत में ही काम करता रहता तो यहां सम्भवतः जितना धन मिलता बाहर जाकर उससे कुछ कम ही मिल सका। और अन्तिम, यह कोई साधारण बात नहीं थी कि भारतीय महिला विश्वविद्यालय की ख्याति सारी दुनिया में हो गई।

मैं जहां भी गया, वहां के स्थानीय पत्रों में विशेष लेखों और मेरे भाषणों की रिपोर्टों द्वारा विश्वविद्यालय के कार्य का प्रचार किया गया। जो भी हो, जो यात्रा पहले अंधेरे में छलांग लगाने के समान लगती थी और जिसके बारे में मेरा मन अज्ञात आशंकाओं से भरा हुआ था, उसी से मैं आशा और शक्ति संचय करके अपना कार्य करने के लिए वापस लौटा।"

जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों में एक ऐसे भी थे जो प्रोफेसर कर्वे से पहले भी मिल चुके थे। 1913 में प्रोफेसर फ्रेडरिक जे० गूल्ड कुछ सप्ताह भारत में रहे थे, तब वह फर्गुसन कालेज में भी गए थे। जेनेवा में जब प्रोफेसर गूल्ड प्रोफेसर कर्वे से मिले, तो वह "तुरन्त भ्रात-सुलभ स्नेह वार्ता में डूब गए।" यह उन्होंने स्वयं प्रोफेसर कर्वे की आत्मकथा की भूमिका में लिखा है। प्रोफेसर गूल्ड को पता चला कि जब उन्होंने पूना हाई स्कूल में बच्चों की एक कक्षा में नैतिक शिक्षा की कथा वार्ता सुनाई थी तो उनके श्रोताओं में प्रोफेसर कर्वे भी थे। 1875 में सार्वजनिक परीक्षा के लिए प्रोफेसर कर्वे की स्मरणीय सतारा यात्रा का और 1916 में महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के उनके साहसपूर्ण प्रयत्नों का उल्लेख करने के बाद प्रोफेसर गूल्ड ने उसी पुस्तक की भूमिका में लिखा

"उसके बाद आता है हमारे पुरोगामी पथ प्रदर्शक को विश्व यात्रा का शानदार विवरण। मेरे लिए यह मार्कोपोलो की यात्रा के वृत्तान्त की तरह ही सम्मोहक है, जिसमें उन्होंने लंदन, डब्लिन, जेनेवा, एल्सिनोर, बाल्टिक सागर, अमरीका और तोकियो के मार्ग से विश्व की परिक्रमा की।"

प्रोफ़ेसर कर्वे अभी अपनी इस तेरह महीनों की कठिन विश्व-यात्रा की थकान मिटा भी न पाए थे कि उनके मस्तिष्क में उस भू भाग की यात्रा का विचार आने लगा, जो उनकी पहली यात्रा में छूट गया था—यानी अफ्रीका। उनके बड़े पुत्र शंकर पूर्वी अफ्रीका के मोंबासा नगर में बस गए थे और केन्या उपनिवेश के प्रमुख चिकित्सकों में थे। ज्यों ही उनके मन में यह विचार आया, उन्होंने अपने पुत्र को पत्र लिखा। शंकर ने अपने प्रत्युत्तर में उन्हें कोई बहुत बड़ी आशा तो न बधाई, लेकिन यह अवश्य लिखा कि आपकी यात्रा नितान्त असफल भी न रहेगी और महिला विश्वविद्यालय के लिए पूर्वी अफ्रीका में पर्याप्त धन इकट्ठा हो सकेगा। देर न कर प्रोफ़ेसर कर्वे ने तदय विश्वविद्यालय के सिंडिकेट की स्वीकृति ली और 31 दिसम्बर 1930 को बम्बई से मोंबासा के लिए रवाना हो गए। इस बार उनके साथ बाया भी गई। बाया का साथ जाने में विशेष प्रयोजन अपने पुत्र, पुत्रवधू और पोते पोतियों से मिलना था। उन्होंने अपना मार्ग-व्यय अपनी निजी बचत से पूरा किया। प्रोफ़ेसर कर्वे ने केन्या, युगांडा, टांगानीका, जंजीबार और पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका के अनेक नगरों की यात्रा की। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में छ सप्ताह बिताए। उनके धन के लिए निवेदन करने पर जनता में बड़ी उत्साह जनक प्रतिक्रिया हुई। अफ्रीका में उन्होंने कुल 34,000 रुपए इकट्ठे किए। यात्रा का खर्च 2,000 रुपयों से कुछ ही अधिक पड़ा। लगभग पन्द्रह महीनों के प्रवास के बाद प्रोफ़ेसर कर्वे अपनी पत्नी के साथ 12 मार्च 1932 को भारत लौट आए।

1922 में सर विट्ठलदास ठाकरसी की असामयिक मृत्यु हुई। उनका निधन एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय के लिए एक गहरा आघात था। जब से उन्होंने विश्वविद्यालय के कार्यों में रुचि ली थी, तब से न केवल उन्होंने उसे राजोपम मुक्तहस्त से दान दिया, बल्कि उसका काम ठीक और

योजनाबद्ध रूप से चलाने के लिए मनोयोगपूर्वक उसमें अपना पर्याप्त समय और शक्ति का भी व्यय किया। अब विश्वविद्यालय उनकी पितृतुल्य देखरेख से वंचित हो गया। प्रोफेसर कर्वे की यह व्यक्तिगत क्षति थी। सर विट्ठलदास की तरह दयालु और उदार किसी अन्य सहायक और हितैषी को खोज पाने का उनका प्रयत्न असफल रहा। उनकी मृत्यु के बाद भी उनकी जायदाद के संचालक उनके द्वारा दान की गई राशि का वार्षिक ब्याज देते रहे, और इस तरह विश्वविद्यालय प्रति वर्ष 52,500 रुपये पाता रहा। इसका सन्तोष था कि पति की मृत्यु के बाद अब लेडी प्रेमलीला ठाकरसी की विश्वविद्यालय के कामों में रुचि हो गई थी। 1926 में वह सिंडिकेट की सदस्या चुनी गईं।

दुर्भाग्यवश फरवरी 1932 में कुछ शर्तों को पूरा करने के विषय में सर विट्ठलदास ठाकरसी ट्रस्ट के ट्रस्टियों और विश्वविद्यालय के अधिकारियों के बीच कुछ मतभेद हो गया। उनका अनुदान मासिक किस्तों में आता था। सदा की भांति फरवरी में देय धन तो प्राप्त हो गया था लेकिन उसके तुरन्त बाद विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार को एक पत्र मिला, जिसमें तीन कार्यवाहकों के हस्ताक्षर थे। पत्र पर 25 फरवरी 1932 की तारीख थी। उसमें कार्यवाहकों के इस निर्णय की सूचना थी कि 52,500 रु० का वार्षिक अनुदान बंद किया जा रहा है।

पत्र में लिखा था—

"हमें खेद है कि सर विट्ठलदास ने कुछ शर्तों पर आपको जो दान देने का वादा किया था और जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं तथा जो आपके पास मौजूद दस्तावेज में लिखी हुई हैं, उनके बारे में हमें यह पत्र लिखना पड़ रहा है।"

'सर विट्ठलदास की मृत्यु के बाद हम इस आशा और विश्वास के साथ प्रति वर्ष 52,500 रुपये देते आए हैं कि वे शर्तें पूरी की जाएंगी। अब हम लोग दस से अधिक वर्षों की प्रतीक्षा के बाद भी देखते हैं वे शर्तें पूरी नहीं की गई हैं अथवा उन्हें कार्यान्वित नहीं किया गया है। अब कुछ समय से ...

लगने लगा है कि विश्वविद्यालय को उन्हें पूरा करने और लागू करने के पर्याप्त अवसर देने के बावजूद वैसा नहीं हुआ।"

'ऐसी स्थिति में हम लोगों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वार्षिक अनुदान को जिसे अब तक हम मासिक किस्तों में देते आए हैं, उसे रोक दें। इस पत्र द्वारा हम आपको सूचित करते हैं कि हमारी तरफ से भविष्य में आपको कोई धनराशि नहीं दी जाएगी।"

रजिस्ट्रार को जब यह पत्र मिला, उस समय प्रोफेसर कर्वे पूर्वी अफ्रीका में थे। 12 माघ को उनके बबई लौटते ही उन्हें इसकी सूचना दी गई। इस सूचना से वह लगभग स्तम्भित हो गए। लेकिन उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। उन्होंने निश्चय किया कि इस विपत्ति का सामना करना ही होगा। इसे उन्होंने अपनी तथा अपने सहकर्मियों की परीक्षा माना।

अविलम्ब यह आवश्यक था कि विश्वविद्यालय की वार्षिक आय में 52,500 रुपए की इस कमी को पूरा किया जाए और उसके 70,000 रुपए के वार्षिक व्यय को चलाने के लिए इतनी रकम की कोई व्यवस्था की जाए।

परीक्षा की इस अधकारमयी घड़ी में प्रोफेसर कर्वे के मन में सबसे पहले अपने निकटतम सहयोगियों, हिंदू विधवा भवन समिति के आजीवन कार्यकर्ताओं, से परामर्श करने का विचार आया। यदि यह व्यवस्था अथवा शिक्षा सम्बन्धी कोई साधारण मामला होता तो इसका विश्वविद्यालय की सीनेट या सिंडिकेट ने अपने हाथों से निपटारा कर दिया होता। लेकिन आरम्भ से ही प्रोफेसर कर्वे ने विश्वविद्यालय की पक्की आर्थिक व्यवस्था करने की नैतिक जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रखी थी। अब उन्होंने अनुभव किया कि इस स्थिति का सामना करना सीनेट से ज्यादा उन्हीं पर निर्भर है। उन्होंने साहस करके इसकी तैयारी की।

उनके साथियों ने उनका साथ देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। वे भी उनकी सहायता के लिए कटिबद्ध थे और जो कुछ वह कहें उसे करने का वायदा किया। उन सभी ने अपने मासिक वेतन में कटौती स्वीकार करने का

निश्चय भी किया। प्रत्येक आजीवन सदस्य का वेतन 125 रुपए मासिक था, उसमे से वे 50 रुपए लौटा देते। कालेज के अन्य अध्यापक भी पीछे नही रहे। अपना वेतन पाने के बाद वे सारी की सारी रकम प्रो० कर्वे को दे देते और कहते कि उसमे से विश्वविद्यालय के लिए जितने की आवश्यकता हो, उतना रख कर बाकी उन्हें लौटा दें। सम्बद्ध सस्थाओ को जो सहायता दी जाती थी, उसमे भी कटौती की गई। कटौती और मितव्ययिता के इन सारे उपायो से 17,500 रुपयों से अधिक की वार्षिक बचत नहीं हो सकी। यह कुल राशि की एक तिहाई थी। अत सार्वजनिक निवेदन किया गया कि वे विशेष रूप से चन्दा देकर सहायता करें।

विश्वविद्यालय की सीनेट ने भी अविलब कारवाई की। सर विट्ठलदास की सम्पत्ति के प्रबन्धकों की चिट्ठी पाने के तुरन्त बाद सर चुन्नीलाल मेहता ने, जो छ वर्षों से विश्वविद्यालय के कुलपति थे, पद त्याग किया। जस्टिस श्री एस० एस० पाटकर ने, जो उप-कुलपति थे, विश्वविद्यालय की इस विपन्न परीक्षा के क्षण मे सर चुन्नीलाल मेहता के रिक्त स्थान को ग्रहण करना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। सीनेट ने सर्वसम्मति से श्री पाटकर को विश्वविद्यालय का कुलपति चुन लिया।

सीनेट ने एक प्रस्ताव पारित किया कि यदि दूसरे स्रोतो से धन न मिल सका तो सोलह वर्षों की अवधि मे सचित विश्वविद्यालय के स्थायी कोष से रुपए निकाले जाए। कुलपति की सहमति से एक सकटकालीन आय व्यय पत्र बनाया गया जिसे सीनेट ने स्वीकार कर लिया।

इस कठिन स्थिति मे प्रोफेसर कर्वे की प्रतिक्रिया की झलक उनकी आत्म कथा से उद्धत निम्नलिखित कथन से मिलती है

सभवत इस लोक मे न तो विशुद्ध अनिष्ट है, न अमिश्रित अच्छाई। यहा तक कि विपत्तियो की भी अपनी उपयोगिता है। ऐसे समय मे कार्यकर्ताओं की कर्त्तव्यपरायणता और आन्दोलन की उपयोगिता की भी परख हो जाती है। यह स्वाभाविक था कि ऐसे सकट के समय मे लोगो के मन मे विश्व विद्यालय के स्थायित्व के प्रति सदेह जाग्रत होता और उसका स्वाभाविक

परिणाम यह होता कि स्कूल कालेजों की छात्र संख्या घट जाती। विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले उम्मीदवारों की संख्या में भी कमी होने की आशंका थी, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके विपरीत, परीक्षा तथा अध्ययन शुल्क के बढ़ाए जाने पर भी यह संख्या बढ़ती ही गई।"

सर विट्ठलदास की सम्पत्ति के प्रबन्धकों के साथ समझौते के प्रयास असफल रहे। अत बंबई हाईकोर्ट म सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 92 के अन्तर्गत सर विट्ठलदास ठाकरसी की जायदाद के संचालकों के विरुद्ध मूल प्रतिवेदन करने का निश्चय किया गया। यह मुकदमा एडवोकेट जनरल ने दायर किया। लेकिन ढाई वर्षों तक इसकी सुनवाई ही नहीं हुई।

लगभग तीन साल बीतने को आए और स्थिति में किसी तरह के सुधार के लक्षण दिखाई नहीं दिए। 1934 के दिसबर में प्रोफेसर कर्वे ने हिंदू विधवा भवन के आजीवन कार्यकर्ताओं की एक बैठक बुलाई। बैठक महान चिन्तापूर्ण अनिश्चयात्मक वातावरण में हुई। लगभग सभी सत्रह आजीवन कार्यकर्ता - पुरुष और स्त्रिया—यथाशक्ति सब कुछ करने को तैयार थे। उन लोगों ने निश्चय किया कि यदि कठिनाइया दस वर्षों तक भी बनी रहे, तो भी जैसा आवश्यक होगा, वैसा किया जाएगा। यह भी तय हुआ कि स्वेच्छा से अपने वेतन में और भी कटौती की जाए। आजीवन कार्यकर्ताओं के इस निश्चय का जनता से धन-संग्रह करने के लिए किए जा रहे प्रयत्नों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस० एस० पाटकर की सलाह से एडवोकेट जनरल से परामर्श करने के बाद स्वतन्त्र रूप से एक नया मुकदमा दायर किया गया। श्री पाटकर एक कुशल वकील भी थे। सर विट्ठलदास ठाकरसी की सारी सम्पत्ति का एक गृहीता नियुक्त करने का भी आवेदन किया गया। 9 अप्रैल, 1935 को इसकी सुनवाई हुई। जस्टिस श्री रागनेकर ने आवेदन पर विचार किया तथा दोनों पक्षों को सलाह दी कि वे समझौता कर लें। उन्होंने स्वय मध्यस्थता करने की इच्छा प्रकट की। इसकी सुनवाई के लिए तीन बैठकें हुई और तीनों ही न्यायाधीश रागनेकर के कक्ष म हुइ। आखिरी

बैठक में जब प्रोफेसर ने कह दिया कि हम स्वावलम्बन का अपना फैसला तब तक स्थगित रखें, जब तक समझौते का एक और प्रयत्न न कर लिया जाए। लम्बे विचार विमर्श के बाद, दोनों पक्षों ने संयुक्त निर्णय (कमेटी रिपोर्ट) कचहरी में दाखिल किया। उसकी शर्तें जब कचहरी ने मंजूर कर ली तो हिंगने विद्यालय और सर विट्ठलदास ठाकरसी की समिति के सदस्यों के बीच का मुकदमा 17 अप्रैल 1935 को समाप्त हो गया।

समझौता यह हुआ कि सर विट्ठलदास ठाकरसी के दान स्वरूप दिए गए धन का 52,500 रुपया ब्याज होता है वह हमेशा तिमाही किश्तों में दिया जाता रहेगा। विश्वविद्यालय ने शर्तें पूरी करना स्वीकार किया जिसमें एक शर्त यह भी थी कि विश्वविद्यालय का अपना एक ऐसा स्थायी कोष तैयार किया जाए, जिसका वार्षिक सूद 52,500 हो। दूसरी शर्त थी कि विश्वविद्यालय तथा उसके कार्यालय को बम्बई ले जाया जाएगा।

विश्वविद्यालय तथा उसकी व्यवस्था हिंगने निष्काम कर्म समिति से अलग थी। विश्वविद्यालय का जन्म 1916 में एक स्वतंत्र संस्था के रूप में हुआ था, लेकिन विश्वविद्यालय और हिंगणे के आश्रम के बीच आपसी सम्बन्ध थे, जो समय के साथ सुदृढ़ होते गए थे। प्रोफेसर कर्वे ने आश्रम की स्थापना की थी, उन्होंने ही विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था। आश्रम के सभी आजीवन कार्यकर्ता विश्वविद्यालय की प्रगति अपनी नैतिक जिम्मेदारी मानते थे और मनोयोगपूर्वक उसके लिए काम करने में तत्पर रहते थे। विश्वविद्यालय में उनमें से कई प्राध्यापक या व्याख्याता थे। उनमें एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार का पद भार लेकर उसे … तथा निःस्वार्थ भाव से सम्भाल रहे थे। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति विश्वविद्यालय के काम को आश्रम के काम का ही विस्तार मानता था। सर विट्ठलदास ठाकरसी की एक शर्त के मुताबिक विश्वविद्यालय तथा उसका कार्यालय 1936 में बम्बई चला गया और तब से हिंगणे की संस्था और विश्वविद्यालय के बीच का सम्बन्ध ढीला पड़ गया।

अध्याय 16

एक नया कार्यक्रम

विश्वविद्यालय का पथ अब प्रशस्त हो गया। प्रोफेसर कर्वे आश्वस्त हो गए थे कि अब उसे मेरी व्यक्तिगत देख-रेख और परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। जो विश्वविद्यालय का काय भार सभाल कर उसका विस्तार करने में कृत उद्यम थे उनकी प्रगति वे देखते रहते। विश्वविद्यालय की उपयोगिता के बारे मे अब कोई टीका टिप्पणी नही होती थी। इसके अतिरिक्त विश्व विद्यालय सम्बधी अपने विचारो मे अब भी उनकी अविचल आस्था थी और विश्वविद्यालय की पिछले बीस साल की उपलब्धिया, चाहे वे कितनी ही नगण्य रही हों, जब भी उनको स्मरण हो आती उनसे उनको एक प्रकार का स तोष मिलता था और उनकी आस्था दृढतर होती चलती थी। उनके लिए यह बडे सतोष की बात थी कि लेडी प्रेमलीला ठाकरसी विश्वविद्यालय के कार्यों मे गहरी रुचि लेने लगी थी और बहुत से महत्वपूर्ण विषयों मे वह आगे रहती थीं।

शा त मन मे वयोवृद्ध अवस्था मे वे अब अपने परिवार—अपनी पत्नी, अपने लडकों, बहुओं और पोते-पोतियों के बारे मे सोच सकते थे।

वह प्रसन्न थे कि उनके सभी पुत्र सान द हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र रघुनाथ ने पेरिस विश्वविद्यालय से गणित मे डिप्लोमा प्राप्त किया था। कुछ वर्षों तक एल्फिसटन कालेज में गणित पढाने के बाद वह बम्बई के विल्सन कालेज में चले गए थे। कुछ वर्षों तक वह सतति-निरोध तथा इसी तरह की अ य समस्याओं पर ध्यान देते रहे। प्रोफेसर कर्वे अपने पुत्र के अनेक विचारों

से सहमत नहीं थे और उसके अनेक कार्य-कलापों का समर्थन नहीं करते थे। लेकिन प्रोफेसर आर० डी० कर्वे जिस साहस और निःस्वार्थ लगन से अपनी पसद के काम करते रहते थे, उसके वह प्रशसक थे।

उनके दूसरे पुत्र शकर डाक्टर थे। वह पूर्वी अफ्रीका जाकर वहां मोबासा में बस गए थे। अपनी अफ्रीका यात्रा में प्रोफेसर कर्वे यह देखकर प्रसन्न हुए थे कि वह न केवल अच्छे चिकित्सक थे, बल्कि म्युनिसिपल कौंसिलर और पूर्वी अफ्रीका की भारतीय कांग्रेस के मत्री के रूप में सामाजिक और राजनैतिक कामों में भी भाग ले रहे थे।

प्रोफेसर कर्वे को विशेष प्रसन्नता इस बात की थी कि उनके तीसरे और चौथे पुत्र, दिनकर और भास्कर न्यू इंग्लिश स्कूल और फर्गुसन कालेज में काम कर रहे थे जिनमे स्वय उन्होंने काम किया था और जो उनकी दृष्टि में पूना को गौरव प्रदान करने वाली सस्थाए थीं। दिनकर लिपजिग विश्वविद्यालय के पी० एच० डी० थे और वे डेकन एजुकेशन सोसाइटी के आजीवन सदस्य बन गए थे। भास्कर हिंगने की दूसरी सस्था मे थे, जिसे प्रोफेसर कर्वे ने स्थापित किया था। प्रोफेसर दिनकर डी० कर्वे की पत्नी इरावती भी आजीवन सदस्य के रूप मे हिंगने की सस्था मे आकर महिला विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार का काम करती थीं। भास्कर की पत्नी कावेरी हिंगने के एक स्कूल में अध्यापिका थी।

इधर प्रोफेसर कर्वे अपने समय और शक्ति का उपयोग अपने द्वारा स्थापित सस्थाओं मे कर रहे थे, उधर बाया अपने घर में अनाथ बच्चों को आश्रय देकर और उन्हें पाल पोस कर बहुमूल्य काम कर रही थीं। वह उनकी स्नेहपूर्वक जैसी देखभाल करती थी उनके पड़ोसियों को उसे देखकर विस्मय होता था।

जब उनके सबसे छोटे लड़के भास्कर ने विश्वविद्यालय में अपनी पढ़ाई पूरी करके विज्ञान की डिग्री ली तो बाया को लगा कि अब अपने पुत्रों के लिए मुझे और कुछ नहीं करना है। वह घर पर खाली नहीं बैठी रह सकती थीं। उनके पास अब भी 'बच्चे' थे, अनाथ बच्चे, जिन्हें वह प्रेम से 'मेरे अपने

बच्चे' कहना पसद करती थी। वे उनकी देखभाल करती थीं। लेकिन इसमे उनका सारा समय नही बीतता था। अन उन्होने सोचा कि अपने पति द्वारा स्थापित संस्थाओ की सहायता के लिए कुछ काम करना चाहिए। पहले उन्होंने प्रोफेसर कर्वे की आत्मकथा के दूसरे संस्करण की प्रतिया बचने का काम हाथ म लिया। इसे आश्रम ने प्रकाशित किया था। इस तरह उन्होंने इतना धन एकत्र करना चाहा जितने से वह ऋण चुक जाए जो इस पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले मे आश्रम को अब भी देना बाकी था। प्रोफेसर कर्वे जब यूरोप और अमरीका मे भ्रमण कर रहे थे, बाया ने भी बिल्कुल अकेले उत्तर भारत के नगरो की यात्रा करके पुस्तक की बहुत सी प्रतिया बेचीं। इस यात्रा से उन्हे बडी प्रसन्नता हुई और उन्हे गव था कि मैं आश्रम के लिए अच्छा काम कर सकी हू। जिन नगरो मे मैं गई, वहा लोगों के साथ अपने पुराने परिचय को ताजा किया और नए परिचय प्राप्त किए। इस प्रकार मैंने अपना समय उपयोगी ढग से बिताया है।

विश्वविद्यालय और ठाकरसी इस्टेट के ट्रस्टियो का झगडा जब निपट गया तो पहले प्रोफेसर कर्वे ने सोचा कि अब मैं अपना शेष जीवन अपने नाती पोतों और प्रिय जनो के बीच बिताऊगा। इस काल का उपयोग वे आभ्यन्तर जीवन के अनुसरण मे करना चाहते थे, क्योंकि अब उन्हें किसी प्रकार का बधन नही था। उन्होंने अपने बाह्य जीवन के लक्ष्य पूरे कर लिए थे और अब शान्ति और सतोष के अधिकारी थे। लेकिन अभी एक वष भी बीता न था कि उनके मन मे नए कायक्रमों के सकल्प उठने लगे। शात क्षणों मे, उन्होंने जब अपने विगत जीवन की घटनाओ का अनुवतन किया तो वे दिन स्मरण आए जब उन्होने एक अनाथ बालिकाश्रम की कल्पना की थी। उसके बाद चालीस वष बीत चुके थे। लेकिन उन्हें यह देखकर बडा विस्मय हुआ कि उनके जीवन में चक्रवत दस दस वष के दशान्तर आते रहे हैं और हर दस साल बाद वे किसी नए विचार या नए दृष्टिकोण या किसी नए सकल्प से अभिभूत हो आते थे। उन्होने 'लुकिंग बैंक' म लिखा है

(१) "जब मैं अठारह वष का हुआ तो मैंने अग्रेजी का अक्षर ज्ञान किया और मेरी कल्पना में जीवन का एक नया दृश्य उभर गया। अट्ठाईस वष का होते

ही मैंने मुरूद फंड के लिए धन संचय करना प्रारम्भ किया। मेरा यह कार्य कई वर्षों तक अन्यान्य कार्यकलापों के बीच अनिवार्यतः चलता रहा। अक्तूबर 1936 में उस फंड की स्वर्ण जयंती मनाई जाएगी। दस वर्ष बाद हिंदू विधवा भवन एसोसिएशन की स्थापना हुई। मुझे यह देखकर हर्ष होता है कि यह बड़ी उपयोगी समाज सेवा कर रहा है। जब मैं अड़तालीस वर्ष का था, तो मैंने महिला विद्यालय और निष्काम कर्म मठ चलाने का संकल्प किया और मैं उत्साहपूर्वक तदनुरूप कार्यक्रमों में लग गया। कई बरसों तक उपयोगी काम करने के बाद इन संस्थाओं को हिंदू विधवा भवन एसोसिएशन में मिला दिया गया। अट्ठावन साल की आयु में मैंने महिला विश्वविद्यालय की स्थापना करने के लिए एक अज्ञात अंधकारपूर्ण पथ पर अभिनिष्क्रमण किया।"

अपनी आत्मकथा में उन्होंने कहा है, सौभाग्यवश अड़सठ की आयु में उनका कोई नया मनोरथ नहीं बना और वह दस वर्षों तक विश्वविद्यालय के कामों को एकाग्र मन से करते रहे। लेकिन, अठहत्तरवें साल में फिर नए कार्यक्रम की तरंग मन में उठने लगी—यह विचार ग्रामीणों में शिक्षा प्रचार का था। सम्भवतया 1935 में उन्हें स्पष्ट दिख रहा था कि स्त्री शिक्षा का कार्य प्रगति के पथ पर तेजी से बढ़ रहा है। इस कार्य को सार्वजनिक संस्थाओं और सरकार ने सोत्साह प्रारम्भ कर दिया था। हर जिले, हर बड़े शहर, यहां तक कि कुछ छोटे शहरों में भी कन्या विद्यालय खुल गए थे। लड़कों के बहुतेरे स्कूलों में भी लड़कियों को भर्ती किया जाने लगा था। इसलिए प्रोफेसर कर्वे सोचने लगे कि अब मुझे निरक्षरता के उन्मूलन के लिए और ग्रामीणों को प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए अभियान करना चाहिए। यद्यपि स्थानीय जिला परिषद और कुछ गैर सरकारी संस्थाएं बहुत से गांवों में स्कूल चला रही थीं, लेकिन अभी बहुत ऐसे गांव थे जहां स्कूल नहीं थे और न उन्हें शिक्षा के लाभ की सम्भावना थी।

जल्दी ही इस विचार ने उन्हें अभिभूत कर लिया। उन्होंने 'केसरी' में एक लेख में अपनी योजना की रूपरेखा प्रकाशित की। उसके बाद शीघ्र ही महाराष्ट्र ग्राम प्राथमिक शिक्षा समिति की स्थापना हुई। इस समिति का

उद्देश्य उन गावों में लिखना पढ़ना और गणित सिखाने के लिए पुराने देसी ढंग के स्कूल खोलना था जहां स्थानीय जिला परिषदों के स्कूल नहीं थे। ऐसा सोचा गया कि इन शिक्षालयों की खास कोशिश यह हो कि जो वयस्क लिखना और पढ़ना जानते हैं, उनका अभ्यास न छूटे। इसके लिए हर स्कूल के साथ एक छोटा पुस्तकालय रखने का प्रस्ताव था। प्रोफेसर कर्वे ने एक स्कूल का जिम्मा लेकर काम प्रारम्भ किया और स्कूल के खर्च के लिए अपनी सत्तर रुपए मासिक पेंशन में से पन्द्रह रुपए देने लगे।

प्रोफेसर कर्वे ने निष्ठा के साथ काम शुरू किया। उन्हें दैनिक डायरी लिखने की आदत नहीं थी, लेकिन 1936 के नव वर्ष के दिन से उन्होंने दैनिकी लिखनी शुरू की। पहले दिन उन्होंने लिखा

"इससे पहले मैंने कभी दैनिकी नहीं लिखी। जब मैं विदेश में यात्रा कर रहा था, मैंने दैनिक विवरण लिखने का प्रयत्न किया था, लेकिन संतोषजनक रूप से ऐसा नहीं कर सका। तथापि आज से मैं नियमित रूप से डायरी लिखना चाहता हूं। इसे लिखने का मेरा यह उद्देश्य केवल यह है कि इस समय मैंने एक नया काम उठाया है, उसका मैं लेखा जोखा रखना चाहता हूं। महाराष्ट्र के जिन गावों में स्कूल नहीं हैं वहां स्कूल खोलने का मेरा यह एक छोटा सा प्रयास है। इस काम में मैं प्रतिदिन कम से कम दस मिनट लगाना चाहता हूं। अगर मैं ऐसा भी न कर सका तो इसे मैं अपने लिए लज्जाजनक समझूंगा कि मैंने इस काम की उपेक्षा की। इसी कारण मैंने आज से डायरी लिखने का निश्चय किया है।"

उनका स्वभाव था कि वह अपने कार्यों का मूल्यांकन तथा अपनी परीक्षा बड़ी सख्ती से करते और निर्मम होकर अपना फैसला करते थे। प्रोफेसर कर्वे ने कुछ समय तक नियमित रूप से दैनिकी लिखी। बहरहाल, अपने को सुधारने या काम की याद दिलाने के लिए उन्हें इसकी कोई आवश्यकता न थी। अपने व्यस्त जीवन में उन्होंने सदा अपने प्रेम का पात्र जितना अपने द्वारा किए जाने वाले काम को बनाया और उसकी जितनी चिंता की थी वह अन्य की। उन्होंने अपने लिए एक कठोर जीवन का वरण किया और

उस व्रत का अच्छे ढंग से निर्वाह किया । अब जब भी पीछे मुड़कर वे जीवन के उन विगत वर्षों पर दृष्टिपात करते, जबसे उन्होंने मुरुद फंड का काम शुरू किया था तो संतोष किए बिना नहीं रह सकते थे । जब उन्होंने अपनी दैनंदिनी का पहला पन्ना लिखा तो उनके मन में थोड़ा आत्मसंशय था और कभी कभी वह अपने बारे में अन्यायपूर्ण निर्णय लेते थे । सारी दुनिया में केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था जिसके प्रति वह निर्मम हो सकते थे और वह वे स्वयं थे ।

तथापि सत्य बात यह है कि उनकी आयु को देखते हुए उनके लिए यह एक बहुत बड़ा काम था और वह जानते थे कि गैर सरकारी तौर पर गांवों में शिक्षा का प्रसार करने में व्यक्तिगत प्रयासों का महत्व बहुत कम है क्योंकि यह समुद्र में एक अकेली बूंद के समान होगा । फिर भी उन्होंने यह काम इस विश्वास से प्रारम्भ किया था कि उनके और उनके सहकर्मियों के ये विनम्र प्रयास शिक्षा प्रसार के प्रति जनता के सजग होने के सूचक होंगे । एक साल से कम समय में उन्होंने 2,700 रुपए इकट्ठे करके दो स्कूल खोल दिए । अपने इन प्रयासों में उन्हें एक अवकाश प्राप्त इंजीनियर आर० एस० बापट का बहुमूल्य और दक्ष सहयोग मिला । वह खेड़ और शिवापुर तालुकों में ग्रामोन्नति के लिए उपयोगी काम कर रहे थे ।

काम बराबर आगे बढ़ता रहा । आर० बी० भागवत भी, जो कई बरसों तक अध्यापक रह चुके थे और नासिक हाई स्कूल के हेडमास्टर थे, अवकाश ग्रहण करने के बाद प्रोफेसर कर्वे के साथ आ मिले । दस बरसों में महाराष्ट्र ग्राम प्राथमिक शिक्षा समिति द्वारा खोले गए स्कूलों की संख्या चालीस हो गई । समिति का काम 1950 तक चलता रहा । जब सरकार ने गांवों में स्वेच्छा से स्थापित स्कूलों को अनुदान देने की योजना चलाई तो समिति के लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि अब वह अपने कार्यक्रम को जारी रखे ।

हिंगने के आश्रम में उसके कार्यकर्ताओं और छात्रों ने पुराने छात्रों की सहायता से प्रोफेसर कर्वे को 81वें जन्म दिन को उनके प्रति अपना धन्यवाद

ज्ञापन करने की योजना बनाई। यह तिथि 18 अप्रैल, 1938 को पडती थी। उस दिवस को सम्यक रूप से मनाने के लिए 1937 के शुरू मे उन लोगो ने अपनी योजना का ब्योरा तैयार किया। आजीवन कार्यकर्ताओं ने 'कर्वे अभिनंदन निधि' आरम्भ की और प्रत्येक स्त्री पुरुष ने स्वेच्छा से अपना आधे महीने का वेतन उस निधि मे दिया। लोक शिक्षा निदेशक श्री प्रीव की अध्यक्षता मे एक प्रतिनिधि कमेटी बनी। इसने पूना की सभी कन्याशालाओं द्वारा खेल कूद और अन्य व्यायामो के सम्मिलित प्रदर्शन की व्यवस्था की। आश्रम की एक पुरानी छात्रा सरलाबाई खोट और उनके पति डा० जी० के० खोट ने इस अवसर के स्मारक के रूप मे हिंगने मे एक तैरने का तालाब बनवाने के लिए धन दिया।

18 अप्रैल, 1938 को सारे देश में जन्मोत्सव मनाया गया। स्वय प्रोफेसर कर्वे के लिए तो वह दिवस और दिनो से भिन्न नही था। अन्य दिनो की तरह वह इस दिन भी सतुष्ट और कृतज्ञतापूर्ण थे कि मैं कुछ उपयोगी काम कर सका हू। तथापि अस्सी वर्ष के होने पर भी उनमें कुछ और करने की उत्कृष्ट लालसा बनी रही। उन्हें सदा ऐसा लगता रहा कि मैं अभी पर्याप्त काम नही कर पाया। अब भी वे नित्य प्रात नव दिवालोक होते ही तथा हर अठारहवी अप्रैल को कृतज्ञ होते कि कुछ और मगल कार्य सम्पन्न करने के लिए मुझे एक नया दिन मिला है।

प्रोफेसर कर्वे की तरुणावस्था में कुछ वर्ष अध्यापक के रूप में बम्बई में बीते थे। वह स्कूलो में पढाते और प्राइवेट ट्यूशन करते। बीस से अधिक वर्षों तक वह फर्गुसन कालेज में प्रोफेसर रहे। वहा उन्होने सैकडो छात्रों को गणित की शिक्षा दी थी। तथापि वस्तुत सच्ची और अधिक स्थायी शिक्षा उन्होने हिंगने में दी। यद्यपि अपनी स्व स्थापित किसी भी सस्था में कभी उन्होंने व्यवस्थित रूप से पढाने का काम नही किया। लेकिन आश्रम, विद्यालय पाठशाला और अध्यापिका शाला के कार्यकर्ताओ और उनमे रहने वाले सभी लोगो को, जो उनके निकट रहते थे उनसे सीखने का अन्यतम बहुमूल्य सुयोग मिला था। उनका प्रत्येक शब्द, उनका आचरण, लघुतम कृत्य उन लोगो के

लिए शिक्षाप्रद था। जब उनके इक्यासीवें जन्म दिवस पर वे लोग उनके प्रति सार्वजनिक रूप से अपना सम्मान व्यक्त करने के लिए इकट्ठे हुए तो उनकी सर्वोपरि भावना यह थी कि वे एक ऐसे अध्यापक के सामने खड़े हैं, जो न केवल विशिष्टतम अध्यापकीय गुणयुक्त होने के कारण आदर्श व्यक्ति हैं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति की हर तरह की भलाई करने के लिए भी सदा, सर्वत्र कृत उद्यम होने के कारण अनुकरणीय हैं।

अध्याय 17

नब्बे वर्षोत्तर यौवन

1942 मे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने धोंडो केशव कर्वे को सम्मानार्थ डाक्टर आव लेटर्स की पदवी दी। परन्तु उनके नाम को अपने से इस प्रकार सम्बद्ध करके वास्तव मे इससे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने अपने को ही सम्मानित किया।

अब सारी दुनिया उस आदमी की प्रशसा कर रही थी। एक अकेला व्यक्ति जो कुछ करने की क्षमता रख सकता है उसे उन्होंने अपने जीवन मे कर दिखाया। और अनेकश लोगो से उनका काय उत्कृष्ट था। लेकिन उनकी अपनी दृष्टि मे वह जो कुछ कर सके वह बहुत अल्प था। उन्होंने जो कुछ करने की परिकल्पना की थी उसका एक अश मात्र था।

चालीस वर्ष पूर्व उन्होंने बालिकाश्रम का काम आरम्भ किया था। वह आवास केवल विधवाओं के लिए था। महिला विद्यालय एक केवल स्त्रियो की सस्था थी—विशेषतया उन स्त्रियो के लिए जो महाराष्ट्र की थी। महिला विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद, विशेषकर के सर विठ्ठलदास ठाकरसी का दान मिलने के अनन्तर, उनका कार्यकलाप और उनकी महत्वाकाक्षा प्रान्तीय सीमा को लाघ कर दूर दूर तक फैल गई। विश्वविद्यालय सारे भारत की सस्था थी। यह निस्सदिग्ध था, पर वह सस्था उन्ही के लिए थी जिनमे उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा थी। जो लोग स्कूल की पढाई पूरी कर के विश्वविद्यालय तक पहुच पाते थे उनकी सख्या बहुत थोडी थी। भारत की अधिकाश जनता तो निरक्षर थी। वह न पढ सकती थी न लिखना जानती

थी । क्या वह तथाकथित मध्यम वर्ग के लोगो के लिए ही कुछ कर वे सतुष्ट हो जाते, चाहे उसका मूल्य कुछ भी रहा हो, चाहे उसमे उन्हे कुछ भी सफलता मिली हो ? क्या अशिक्षित किसान और मजदूर भी उनके भाई नहीं थे ? उन्होने एक मूक आह्वान सुना तो उन्ही की गूगी पुकार थी । उन्हें लगा कि जब तक मैं उनके लिए कुछ नही कर लेता, मेरे जीवन का व्रत अधूरा रह जाएगा । विचलित कर देने वाले इन्ही विचारो ने महाराष्ट्र ग्राम प्राथमिक शिक्षा समिति को जन्म दिया । बारह से अधिक वरसो तक उन्होने समिति का काम किया । जनवरी 1948 मे उन्होने लिखा

"समिति उन सभी लोगो को सहायता देती थी, जो उन जगहो मे स्कूल चलाने का जिम्मा लेते थे जहा शिक्षालय नही थे । आज ऐसे चालीस शिक्षालय हैं । समिति उनकी देख रेख करती है । मैं नित्य प्रात काल दो घटे तक समिति के लिए धन सग्रह करने निकलता हू । जब मैं बाहर जाता हू, मेरे साथ साधारणत एक स्वयसेवक रहता है । दान चाहे कितना ही छोटा हो, मैं स्वीकार कर लेता हू—एक आना और दो पैसे तक । जब काग्रेस ने शासन सत्ता सभाली तो इन सभी स्कूलो को सरकारी सहायता मिलने लगी । आज समिति के कोष मे सोलह या सत्रह हजार रुपए हैं ।"

यह लगभग सम्पूर्ण रूप से प्रोफेसर कर्वे के ही प्रयत्नो का परिणाम था कि महाराष्ट्र ग्राम प्राथमिक शिक्षा समिति इतनी शीघ्रतापूर्वक अपने काय को विस्तृत कर सकी थी । इसके अतिरिक्त सभी चालीस स्कूलो को आर्थिक सहायता देने के उपरान्त उसके पास सोलह सहस्राधिक रुपए बच रहे थे ।

महाराष्ट्र या भारत से भी विषय बहुत बड़ा है । अत यह पर्याप्त न था कि महिलाओ को, जो मानव जाति का केवल अर्ध भाग ही हैं, पद और अवसरो की समानता देने का प्रयत्न किया जाए । प्रोफेसर कर्वे को सदा वे असमानताए खटकती रही जो आपस म मनुष्यो और विभिन्न सम्प्रदायो के बीच वतमान थी । इन असमानताओ को बने रहने देना वे अमानुषिक समझते थे । हिन्दू समाज से छुआछूत का अभिशाप हटाने के लिए जो काम हो रहा था, प्रोफेसर कर्वे उससे परिचित थे । इस काम का क्षेत्र बृहत्तर किया जा

सकता था। युद्ध काल में मनुष्य का आत्मविश्वास समूल हिल गया था। प्रोफे-सर कर्वे ने अनुभव किया कि मनुष्य की निष्ठा शान्तिमय और सहयोगात्मक प्रयत्नपूर्ण जीवन में पुन प्रतिष्ठित करने के लिए, युद्ध काल म संगठित प्रयास करने की विशेष आवश्यकता है। जब उन्होंने युद्ध की विभीषिकाओं का वर्णन सुना और उन पर विचार किया तो उनम कुछ कर गुजरने की अदम्य इच्छा बलवती हो उठी।

1918 में अमरीका म चार्ल्स फ्रेडरिक वेलर ने विश्व बन्धुत्व (वर्ल्ड फैलोशिप) की स्थापना की थी। प्रोफसर कर्वे ने उसके बारे में बहुत कुछ सुना था। इस सस्था का उद्देश्य विश्व के मानव मात्र का समान रूप से हित साधन करन के लिए सारे विश्व म एक ही सरकार की स्थापना करना था। यह विश्व-सरकार का विचार उनको बहुत भाया था। उन्होंने वर्ल्ड फैलोशिप के सस्थापक को एक पत्र लिखा। उन्हें उत्तर भी मिला। समय-समय पर फैलोशिप के कामो का विवरण पाते रहने के लिए वह पत्र-व्यवहार करते रहे।

1934 में लदन में मानव समता को बढ़ावा देने के लिए एक समिति (दि सोसाइटी टु प्रोमोट ह्यूमन इक्वैलिटी) स्थापित हुई। इसके स्थापको में फ्रेडरिक जे० गोल्ड भी थे। उनसे 1913 म, जब वह भारत आए थे, प्रोफेसर कर्वे मिल चुके थे। उस समय वह बम्बई के शिक्षा विभाग के आमत्रण पर स्कूल के बच्चो को नैतिक शिक्षा किस प्रकार देनी चाहिए, इसकी प्रणाली बतलाने के लिए भारत आए थे। जेनेवा के विश्व शिक्षा सम्मेलन में भी गोल्ड से प्रोफेसर कर्वे की फिर भेंट हुई थी। श्री गोल्ड से उनको इस मानव समता सम्बन्धिनी समिति का विवरण तथा साहित्य प्राप्त हुआ। उसके सस्थापको में वह भी थे। पाच शिलिंग का चदा देकर प्रोफेसर कर्वे भी उसके सदस्य बन गए। उस सोसाइटी ने एक पत्रिका निकाली। प्रो० कर्वे उस पत्रिका के लेखों को बड़े ध्यान से पढ़ते। इन लेखो स पहली बार उनको यह स्पष्ट विदित हुआ कि मानव समता एक आदर्श मात्र नहीं है जिसका व्याख्यान केवल मच से उपदेश के रूप में कर दिया जाए, वह तो एक क्रियात्मक आन्दोलन है जिसे जीवन में सामाजिक और राजनैतिक व्यवहार में उतारा जा सकता है।

इस क्षेत्र मे किए गए गाधीजी के उज्ज्वल प्रयासो का अतुलनीय उदाहरण प्रोफेसर कर्वे के सामने था। वे गाधीजी का बडा सम्मान करते थे—विशेषत इसलिए कि उनके समाज सुधार के कायक्रमो मे सबसे प्रमुख स्थान हरिजनो को और महिलाओ को, बराबरी का दर्जा दिलाने का था। उस समय प्रोफेसर कर्वे विश्व-यात्रा कर रहे थे जब 1930 मे गाधीजी ने दाडी यात्रा की और नमक सत्याग्रह आरम्भ किया, तब वह जापान मे थे।

अभी ये हृदय स्पर्शी घटनाए घट ही रही थी कि प्रोफेसर कर्वे जापान से वापस आए। उन्होने एक ऐसा अदभुत दृश्य देखा जिससे उनकी आखो मे खुशी के आसू आ गए। उन्होने देखा कि बम्बई की भीड भरी सडको पर सैकडो उच्च आभिजात्य कुलो से लेकर निम्नतम सामाजिक वग की बूढी स्त्रिया और युवतिया समुद्र की ओर सामूहिक प्रयाण कर रही हैं। उनको लाठी बद पुलिस और हथियारबद गोरे सार्जेंटो ने चारो ओर से घेर रखा था। निभय होकर अपने प्रस्फुट ओष्ठाधरों से वीर गान करती हुई, केसरिया वस्त्र धारण करके दल की दल स्त्रिया व्यूह बनाकर समुद्र की ओर बढ़ रही थीं, वहा पहुच कर उन्हे नमक का कानून भग करना था। प्रोफेसर कर्वे के मुख से सहसा निकला, मैं और मेरे-जैसे अन्य लोगो ने जो काम दशाब्दियों मे नही पूरा कर पाया उसे साबरमती के जादूगर ने अपनी कममयी कल्पना के एक ही विलास से कर दिखाया है।"[1]

मानव समता सवर्धिनी समिति के उद्देश्यो पर गम्भीर विचार करने पर उन्हे यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि यद्यपि भारत मे लोगो के मन और उनकी समस्त शक्ति राजनैतिक मुक्ति के प्रश्न का समाधान करने मे पूणतया लगे हुए हैं, पर हिन्दुओ के अन्दर उनके विभिन्न सम्प्रदायो मे, तथा हिन्दुओ और मुसलमानो तथा अन्य धर्मावलम्बियो के बीच समता के विचारो को फैलाने के लिए बहुत कम काम किया जा रहा है। भारत की खोई हुई स्वतत्रता को वापस पाने के लिए जो कुछ करना आवश्यक था, राजनैतिक नेता वह सब कर

1 "गाधी माग" मे आर० आर० दिवाकर लिखित। "गाधी और स्त्रियो की उन्नति", अगस्त 1964।

रहे थे। पर भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने के लिए केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही पर्याप्त नहीं थी। यह भी आवश्यक था कि लोग एक दूसरे के प्रति अपने सामाजिक और आध्यात्मिक कर्तव्यों को जानें और उनको करने के लिए अधिक सचेत हों। इसके लिए हृदय परिवर्तन आवश्यक था और यह मानव समता को स्वीकार करने और उस पर आचरण करने से ही हो सकता था। ऐसे विचार प्राय प्रोफेसर कर्वे के मन को आलोड़ित करते रहते। ऐसा सोचते-सोचते उनको यह बात जच गई कि लदन मे श्री गूल्ड और उनके मित्रों ने जैसी समिति स्थापित की है, उसी प्रकार की एक सस्था भारत में भी होनी चाहिए। उन्होंने स्वय उसकी स्थापना करने का निश्चय किया। 1942 मे मद्रास के 'इडियन रिव्यू' मे एक लेख प्रकाशित करके उसमे उन्होंने अपनी योजना की रूपरेखा दी। उन्होंने उस लेख को इन शब्दो के साथ समाप्त किया

"मेरी शारीरिक और मानसिक स्थिति जैसी आज है, वह यदि वैसी ही बनी रही तो युद्ध की समाप्ति होते ही मैं महाराष्ट्र के लिए एक स्वल्प आरम्भिक प्रयत्न करना चाहता हू।"

उन्होंने कहा कि वे केवल महाराष्ट्र के लिए ही सोसाइटी कायम करना चाहते है, क्योंकि उन्हें ऐसा लगा कि अखिल भारतीय पैमाने पर ऐसा प्रयास करना उनके बूते का नहीं है।

एक वर्ष बीत गया, फिर भी लडाई चलती ही रही। अब वह पचासी वर्ष के हो चुके थे। उनका धैर्य टूटने लगा। यदि वह लड़ाई बद होने तक प्रतीक्षा करते रहे तो हो सकता है उनका स्वास्थ्य गिरने लगता और फिर इस काम को आरम्भ करना उनके लिए सम्भव न होता। अत उन्होंने तुरन्त कार्यारम्भ करने का निश्चय किया। आश्रम की एक आजीवन कार्यकर्त्री श्रीमती बाम्बाई रोवडे उन्ही दिनो सेवा निवृत्त हुई थी और किसी और काम म लगने के लिए स्वतन्त्र थी। उन्हें प्रसन्नता थी कि वे ना के नए प्रयास मे सहायक हो सकीं। 1 जनवरी, 1944 को प्रोफेसर कर्वे और श्रीमती रोवडे ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमे समता-सघ की रूप रेखा प्रस्तुत की गई थी

जिसका कार्यारम्भ करने का उनका प्रस्ताव था। उन्होंने उसका एक रुपया वार्षिक चंदा रखा था और लोगों को उसका सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किया। इस नई संस्था से सहानुभूति रखनेवालों के हस्ताक्षर लेने के लिए वे घर घर घूमने लगे। तीन महीनों में लगभग एक सौ हस्ताक्षर इकट्ठे हो गए। उसके बाद 21 अप्रैल, 1944 को औपचारिक रूप से समता-संघ का उद्घाटन हुआ। इस अवसर पर गायकवाड़ वाड़ा में एक सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता एन० सी० केलकर ने की। संघ में सम्मिलित होने वालों में विभिन्न प्रकार की विचारधारा के लोग थे। सभी प्रकार के लोग इसमें शामिल हुए थे क्योंकि उन्हें यह पता था कि इस संघ के उद्देश्य किसी प्रकार की एक पक्षीय दल या पार्टी की भावना से ऊपर हैं। वे इसलिए भी इसमें शामिल हुए थे क्योंकि इसके संस्थापक इतने महान थे कि वह किसी पार्टी या दल विशेष के नहीं माने जा सकते थे। उन्हें सार्वभौम सम्मान प्राप्त था। दूसरे, इसका उद्देश्य हर तरह के भेद भाव और वैमनस्यों को दूर करना था तथा सभी स्त्री-पुरुषों का समान रूप से कल्याण करना था। प्रोफेसर कर्वे, जिन्होंने इस प्रकार की संस्था की स्थापना की थी, इस काम को करने के सर्वथा योग्य माने जा सकते थे, क्योंकि उनके जीवन के बहुविध कार्य, उनका दृष्टिकोण, और उनकी अनेकागी सफलताओं ने उनको इसका योग्यतम पात्र बना दिया था।

अगले दो वर्षों में संघ के सदस्यों की संख्या छह सौ हो गई। संघ के उद्देश्यों और लक्ष्य की व्याख्या और प्रचार करने के लिए प्रोफेसर कर्वे देश के विभिन्न भागों में लोगों के साथ पत्र व्यवहार करते रहे। नवम्बर 1945 में उन्हें बम्बई में राव बहादुर सत्रे नामक एक सहयोगी मिले जो बहुमूल्य सिद्ध हुए। उन्होंने बम्बई तथा आसपास के इलाकों के लिए संघ की एक शाखा खोली। इसके तुरंत बाद ही महाविदर्भ में वहां की प्रसिद्ध राजनैतिक नेत्री श्रीमती दुर्गाबाई जोशी ने, उसी प्रकार की एक शाखा खोल कर उनका अनुसरण किया।

प्रोफेसर कर्वे के उत्साह के सामने बड़ अल्पवयस्क कार्यकर्ता लज्जा का अनुभव करते। ऐसे उत्साहपूर्वक वे समता के सिद्धांत का प्रचार करने के लिए

एक जगह से दूसरी जगह जाते रहे। जनवरी 1947 मे वह श्री विष्णु रामचन्द्र वेलणकर के 'सुवर्ण-तुला'[1] समारोह में सम्मिलित होने के लिए सागली गए। श्री वेलणकर वहा के प्रधान उद्योगपति थे। समारोह समाप्त होने के बाद प्रोफेसर कर्वे सागली मे एक दिन और रुक गए। उन्होने विलिंग्डन कालेज के प्रोफेसरो और छात्रो की एक सभा म समता सघ के उद्देश्यो और लक्ष्य के सम्बध मे भाषण दिया। सागली से वह मीरज गए। वहा उनके सम्मान मे एक सार्वजनिक सभा हुई। उसके बाद वह कुडगांव, किर्लोस्करवाडी और शोगलेवाडी गए। मार्च म वह कोल्हापुर गए। वहा वह महिला सेवा मडल के भवन के शिलान्यास के लिये आमन्त्रित थे। उन्होने मडल के सदस्यो को समता सघ के उद्देश्य बताकर उत्सव म सम्मिलित होने के अवसर का लाभ उठाया। अन्तिम दिन कोल्हापुर के निवासियो ने उनके सम्मान म एक विशेष उत्सव का आयोजन किया, जिसम उसके नये कार्यक्रम के लिए दो सौ रुपयो का चदा इकट्ठा किया गया।

4 मई 1947 को पुणे के नागर वाचन मदिर के 99वें वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता करते हुए प्रोफेसर कर्वे ने कहा

'अगर हम पिछले विश्व-युद्ध की तरह के सकटो से बचने के लिए सचमुच आकुल हैं तो इसका सबसे प्रभावशाली उपाय है सारे विश्व की एक ही केन्द्रीय सार्वभौम सरकार स्थापित करना।"

प्रोफेसर कर्वे ने कहा कि विश्व सरकार के इस आदर्श को सम्भव बनाने के लिए जो सस्थाए प्रयत्नशील हैं, उनमें एक उनके द्वारा स्थापित समता सघ भी है।

सघ के उद्देश्यो को अधिक शीघ्रतापूर्वक और प्रभावशाली ढग स विज्ञापित करने का काम चालू रखने के लिए उन्होंने जुलाई 1947 मे 'मानवी समता' नाम से एक मासिक पर्चे का प्रकाशन आरम्भ किया।

वह अपनी जन्मभूमि मुरुद म पुरुष फड के हीरक जयन्ती समारोह मे

---

1 सुवर्ण-तुला सोने से अपने को तोलकर उस सोने को दान मे दे देना।

सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किए गए। साठ बरस पहले, कुछ तरुण कार्यकर्ताओं की एक मण्डली ने इस फड को स्थापित किया था, जिसके नेता प्रोफेसर कर्वे ही थे। मुरुद के भगिनी समाज ने दुर्गादेवी के मंदिर में एक सभा की। इस मंदिर के साथ मुरुद के कर्वे लोगो का अतरग सम्बध था। यहां से पूना लौटने से पहले मुरुद के ये बडे बुजुर्ग डा० पराजपे की जन्मभूमि मुर्डी गए। वहा उन्हें स्थानीय स्कूल के पुरस्कार वितरण समारोह की अध्यक्षता करनी थी।

प्रोफेसर कर्वे ने 1948 में एक हृदयस्पर्शी निवेदन करते हुए कहा

"मैं बहुत अधिक नही मागता। समता-सघ का वार्षिक सदस्यता शुल्क डेढ रुपया है। इस छोटी-सी रकम म 'मानवी समता' नामक मासिक पत्र का वार्षिक मूल्य भी शामिल है। सघ के सदस्य से हमारी माग बहुत बडी नही है। वह बहुत साधारण मर्यादाए हैं। समता का शिक्षानुकूल आचरण करने, उनको पूर्ण रूप से मान लेने अथवा उसका अभ्यास करने के लिए हम कोई समय की सीमा निर्धारित नही करते। वे लोग, जो इसे एक आदर्श के रूप मे ग्रहण करते हैं और यथासम्भव इस पर आचरण करने का प्रयास करते हैं, सघ के सदस्य बना लिए जाते हैं।"

18 अप्रैल, 1948 को प्रोफेसर कर्वे ने अपने जीवन के नब्बे वर्ष पूरे किए। उनके इक्यानबें जन्मदिवस को सारे देश के स्त्री पुरुषो ने मनाया। वे लोग भगवान के प्रति कृतज्ञ थे कि प्रोफसर कर्वे अब भी उनके साथ हैं और अपना उठाया हुआ काम सक्रिय रूप से कर रहे है। बम्बई मे उनके जन्मदिवस समारोह की अध्यक्षता डा० राजेन्द्र प्रसाद ने की। इस अवसर पर उन्हें एक लाख रुपये की थैली भेंट की गई। इससे दो साल पहले उन्होंने अनाथ बालिकाश्रम के स्वर्ण जयन्ती उत्सव में भाग लिया था। अपनी उस सतान के साथ उन्हें स्नेह था। उस आश्रम के पिछले काय व्यस्त पचास वर्षों की ओर दृष्टिपात करते हुए प्रोफेसर कर्वे ने कृतज्ञता का अनुभव किया था कि मेरे प्रयत्न निष्फल नही हुए। साथ ही उन्होने यह भी अनुभव किया था कि भविष्य मे करने के लिए सामने जो काम पडा है, उसकी तुलना मे अभी बहुत थोडा काम हो सका है।

अक्तूबर 1948 मे 'जाति-निर्मूलन सस्था' का पुणे म उद्घाटन हुआ। उसकी 10 अक्तूबर की आरम्भिक बैठक म अध्यक्ष डा० आर० पी० पराजपे थे। उ होने कहा

"श्री गोडवोले ने जिनके आमत्रण पर हम सब यहा एकत्रित हुए हैं, श्री अण्णासाहब कर्वे से ही प्रेरणा पाई। मैंने भी सावजनिक सेवा का पहला पाठ उन्ही से सीखा है।"

प्रोफेसर कर्वे समता-सघ और 'मानवी समता' के पृष्ठो के माध्यम से जिस समता के सिद्धान्त का प्रचार कर रहे थे उसी का एक उदाहरण श्री गोडवोले द्वारा स्थापित सस्था भी थी। आनेवाले महीना और बरसो मे जाति निर्मूलन सस्था जैसे सगठनो के कायक्रमो के माध्यम से समता-सघ को एक अधिक विस्तृत काय-क्षेत्र मिल सका।

इस प्रकार वयोवृद्ध प्रोफेसर कर्वे जब युवकों की सी शक्ति और उत्साह के साथ समता-सघ का काम कर रहे थे तो उनकी पत्नी अपन इधर उधर के धधों को समेट कर उनसे छुट्टी पाने का प्रयास कर रही थी। वह येरडवाने में कालेज के अहाते के अ दर एक छोटे से बगले मे अकेली रहती थीं उनके पुत्र और पुत्रवधुए उनसे कहा करती, "बाया, आप हम लोगो के साथ चल कर क्यो नही रहती ? आप बहुत वृद्ध हो गई हैं और अब आपकी अकेली रहने की अवस्था नही है।"

वह दिनकर के साथ येरडवाने म या भास्कर के साथ हिंगणे मे रह सकती थीं। लेकिन उन्होने दृढ सकल्प करके उन लोगो का आमत्रण अस्वीकार कर दिया।

अपने घर म मैंने एक साम्राज्ञी की तरह आधिपत्य किया है। तुम्हारा घर तुम्हारा साम्राज्य है। तुम कहते हो कि मेरी प्रस नता के लिए तुम कुछ भी करने को तैयार हो। मैं जानती हू कि तुम सब कुछ करोगे, परन्तु क्या तुम यह नही देखते कि तुम्हारे और मेरे राज्य म एक फक है ? मैं उस राज्य पर कैसे शासन कर सकती हू जिसके वास्तविक अधिकारी तुम हो ? जब तक मेरे अग समथ हैं, मैं किसी की आश्रित नही रहूगी। यदि कभी मेरी शक्ति

अजेय शक्ति उनके उस दुर्बल शरीर में प्रकट हो रही थी। जो शरीर वहां सिकुड़ा पड़ा था वह एक बच्चे के शरीर से बड़ा नहीं लग रहा था।

बाया की अन्तिम इच्छा पूरी हुई। मृत्यु के बाद भी उनके भाल पर सिंदूर की लालिमा जगमगा रही थी।

उनके भौतिक अवशेष जब अग्नि में भस्म हो रहे थे, अण्णा निश्चेष्ट खड़े थे। शाम को फिर वह उस स्थान का अन्तिम दर्शन करने के लिए गए जहां पर उनको परलोक यात्रा करने की अन्तिम विदाई दी थी।

जहां बाया का दाह संस्कार हुआ था, वहां अब एक तुलसी वृन्दावन खड़ा है। लोगों के लिए अब यह तीर्थ स्थान बन गया है। अण्णा जब कभी हिंगणे जाते, वहां भी हो आते। उस समय उनके मानस पटल पर सत्तावन वर्ष के साहचर्य की स्मृति उभर आती, परन्तु उनकी मुखाकृति या हृदय में किंचित शोक की छाया न होती।

तीन बरस बाद बम्बई से उनके ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु की सूचना आई। उसे प्रोफेसर कर्वे ने उसी निरपेक्ष भाव से सुना। कुछ दिनों की बीमारी के बाद, 14 अक्तूबर, 1953 को प्रोफेसर आर० डी० कर्वे का भी स्वर्गवास हो गया। उस समय उनकी आयु बहत्तर वर्ष की थी। जब वह अस्पताल में मृत्यु शय्या पर पड़े थे, उनके भाई बड़ी सावधानी के साथ अपने पिता को तैयार कर रहे थे ताकि उनका मन उस भवितव्यता को स्वीकार कर सके। 14 अक्तूबर को सूर्योदय के कुछ समय पूर्व बम्बई से टेलीफोन पर सवाद प्राप्त हुआ। वह सूचना दिनकर ने भेजी थी, जो अन्तिम समय भाई की मृत्यु शय्या के निकट था। अपने पिता को यह खबर भास्कर ने दी। एक भी उसास लिए बिना प्रोफेसर कर्वे ने वह खबर सुनी। कुछ क्षणों तक चुप्पी रही। उस मौन को प्रोफेसर कर्वे ने ही भग किया।

उन्होंने कहा मैं पचानवें साल का बूढ़ा होकर आज भी यहां बैठा हूं। जाने का तो काल मेरा था। पर इसके बदले पुकार मेरे पुत्र की हो गई। वह भी वयस्क था, लेकिन ।

भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष चुने

जाने के अरतोग वध बाद प्रोफेसर कर्वे से अनुरोध किया गया कि वे पुणे के महाराष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन का उद्घाटन करें। इस सम्मेलन का आयोजन समाज सुधार का काम करने वाली कई संस्थाओं ने मिल कर किया था। इनमें पुणे की जाति निमूलन संस्था और बम्बई सूबे का बाम्बे प्रेसिडेंसी सोशल रिफार्म एसोसिएशन भी सम्मिलित थे। उद्घाटन 18 अप्रैल, 1953 को हुआ। यह प्रोफेसर कर्वे का छियानवेवाँ जन्म दिवस था। उसका उद्घाटन भाषण छोटा-सा था। बहुत स्पष्ट स्वर में वह लगभग दस मिनट तक बोले। उनकी आवाज़ पण्डाल के कोने-कोने तक पहुँची। उन्होंने सम्मेलन से अनुरोध किया कि सामाजिक भेद भाव को दूर करने के लिए तथा भारतीय समाज में समता स्थापित करने के लिए उसे न केवल महाराष्ट्र का, बल्कि सारे देश का नेतृत्व करना चाहिए।

उनके अन्तिम वाक्य में, जिसके साथ उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया, एक हृदयस्पर्शी संकेत था—"मैं अब बूढ़ा हो चला हूँ। कह नहीं सकता कि आगे इस सम्मेलन के कितने और अधिवेशन देखने के लिए जीवित रहूँगा।"

सुदूर बनारस में डी० लिट की सम्मानार्थ उपाधि देकर पुणे के उस महान वृद्ध का अभिनन्दन किया था। इसके नौ बरसों बाद पुणे ने भी उन्हें डी० लिट् की मानद उपाधि देने की बात सोची। 1955 में एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय से उन्हें एक तीसरी डाक्टर आफ लिटरेचर की उपाधि मिली। उसके बाद तेजी से अन्य सम्मानों की बौछार आई। 1955 में भारत सरकार ने उन्हें पदम विभूषण की उपाधि से अलंकृत किया। उनकी आयु के सौवें वर्ष, सन् 1957 में बम्बई विश्वविद्यालय ने दूसरी बार धोंडो केशव कर्वे का नाम अपने कागजों में लिखा। सन् 1884 में उन्होंने इस विश्वविद्यालय से बैचलर आफ आर्ट्स की डिग्री ली थी और उस डिग्री के अर्जन को उन्होंने अपने लिए अभिमाननीय उपलब्धि माना था। 1957 में बम्बई विश्वविद्यालय के सिंडिकेट और सिनेट ने इसे गहरे संतोष और गौरव का विषय माना कि वह उन्हें दूसरी डिग्री—डाक्टर आफ लाज की मानद डिग्री दे रहा है। 23 नवम्बर को आयोजित एक विशेष दीक्षांत समारोह में

श्री प्रकाश ने कहा—

"हम उनके कृतज्ञ हैं कि महर्षि कर्वे ने हम से डाक्टर ऑव लाज की सम्मानार्थ उपाधि लेना स्वीकार किया है। उनका सम्मान करने की चेष्टा करके वस्तुतः हम अपना ही सम्मान कर रहे हैं। वह हमारे ही विश्वविद्यालय के एक विशिष्ट स्नातक हैं। साथ ही वह एक अत्यंत निष्ठावान सार्वजनिक कार्यकर्ता, निःस्वार्थ देशभक्त तथा दलितों और संकटग्रस्तों के निर्भीक पक्षधर हैं। उन्होंने अपने उपदेशों पर स्वयं अनुकरणीय आचरण करके आदर्श प्रस्तुत किया है। अपनी सादगी और अपने व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता द्वारा उन्होंने हमें दिखलाया है कि हमारी प्राचीन जीवनचर्या और विचारधारा का सच्चा प्रतिनिधि क्या है और कैसा हो सकता है।"

प्रोफेसर कर्वे आयोजित दीक्षांत समारोह में डिग्री लेने को उपस्थित हुए। इस प्रकार के आयोजनों की परम्परा के विपरीत डिग्री पाने वाले के रूप में उन्होंने एक लघु भाषण भी दिया। उस भाषण में उन्होंने अपने विशेष गर्व का उल्लेख किया, जिसकी अनुभूति उनको अपने पुराने विश्वविद्यालय से सम्मान पाकर हो रही थी। उन्होंने कहा—

"1884 में जब मैंने अपनी डिग्री ली थी, मैंने इस बात की सपने में भी कल्पना नहीं की थी कि मैं कभी स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी या सर सी० वी० रमण की कोटि का माना जाऊंगा और उनकी तरह इस विश्वविद्यालय से डाक्टरेट प्राप्त कर सकूंगा। ईश्वर ने मुझ पर अनुकम्पा करके लम्बा जीवन दिया और मैंने भारतीय नारियों के लिए जो यत्किंचित् काम किया, उसके लिए बहुमूल्य पुरस्कार दिया। आज का यह सम्मान मेरे प्रति सदा प्रदर्शित होते रहने वाले समाज के प्रेम और अनुग्रह का एक और प्रमाण है। अपने जीवन के शेष शांतिपूर्ण दिनों में मैं सदा आज के इस सम्मान के लिए अपने गुरुकुल का आभारी रहूंगा। स्वतन्त्रता के बाद हमारे सामने महान कार्य आ गए हैं मेरी यह हार्दिक कामना है कि उन्हें संभालने के लिए यह सौ वर्ष का प्राचीन विश्वविद्यालय भारत के योग्यतम सुपुत्रों को तैयार करने का महत्तर गौरव प्राप्त करे।"

मुझे प्रभावित किया और मेरा स्वरूप निर्माण किया, जाने कब के इस ससार से विदा हो चुके हैं। लेकिन इस अवसर पर वे सभी मुझे स्मरण आ रहे हैं। मैं आपको, जो उनके उत्तराधिकारी हैं और वतमान छात्रो को, जो आज अपने जीवन की देहरी पर उसी प्रकार खडे हैं जैसे एक समय मैं खडा था, अपनी शुभ कामनाए देता हू।

मेरी तरह चिरजीवी होने का सौभाग्य सबको प्राप्त नही होता और वह भी दूसरो की अपेक्षा एक अधिक स्वस्थ पुरुष के रूप मे। मैं और भी भाग्यशाली हू कि मुझे बम्बई विश्वविद्यालय तथा उन सभी सस्थाओ ने, जिनके साथ मेरा छात्र के रूप मे सबध रहा था, पिछले कुछ दिनो के अ दर सम्मानित किया है। मैं इतना ही कह सकता हू कि मैं उनकी अ यतम शुभकामनाओ और अभिवादन के लिए कृतज्ञ हू। मैं उन सभी के अभ्युदय, समद्धि और सफलता की कामना करता हू। हमारे इतिहास मे देश से जब विदेशी सत्ताधारियो को निकाल बाहर करने का पहला असफल प्रयास किया गया था, तब से लेकर स्वातत्र्योत्तर प्रथम दशाब्दी का उत्सव मनाने जाने के मध्य की अवधि की घटनाओ को देखने का मुझे अवसर मिला है। अब हमारे देश का भविष्य उस युवा वग के हाथो मे है, जिसे हम प्रशिक्षण देकर अपने स्कूलो, कालेजो और विश्वविद्यालयो से निकालते है। मै आशा करता हू कि बम्बई नगर की प्रशिक्षण परम्परा देश की इस प्रगति मे समुचित योग देगी। पुनश्च ध यवाद।"

1958 के गणतत्र दिवस पर, भारत के राष्ट्रपति ने सम्मानाथ उपाधिया देने के लिए जिन सामाजिक कायकर्ताओ, सावजनिक सेवाओ और अफसरो को चुना उनकी सूची म धोडो केशव कर्वे का नाम सबसे ऊपर था। राष्ट्रपति ने उ हे 'भारत रत्न' की उपाधि दी थी। यह इस देश म सबसे बडा सम्मान था जो किसी को दिया जा सकता है। इस सरकारी मा यता को प्राप्त करके महर्षि कर्वे भारत के विशिष्ट पुत्रो और सेवकों की सबसे ऊची श्रेणी मे आ गए थे।

अध्याय 18

शतवार्षिकी और अंत के वर्ष

18 अप्रैल 1958 को उनकी शतवार्षिकी के अन्य उपलक्ष्य में प्रोफेसर कर्वे के जन्म दिवस को अभूतपूर्व उल्लास के साथ मनाया गया। सभी जगह उनके प्रति शुभकामनाएं प्रकट करते हुए लोगों ने भगवान को धन्यवाद दिया। महीनों पहले पुणे, बंबई और अन्य स्थानों में इस शतवार्षिकी समारोह को समुचित रूप से मनाने के लिए सर्वांगीण तैयारियां करने के लिए कमेटियां बनाई गयी थी। मुख्य समारोह 18 अप्रैल को बंबई में हुआ। इससे पहले पुणे में कई समारोह हो चुके थे। कई स्त्रियां जो पहले हिंगणे में रह चुकी थी, काफी बड़ी संख्या में हिंगणे में एकत्रित हुई। वे अपने आदरणीय और प्रिय अन्ना की शतवार्षिकी को इस प्रकार आरंभ करने वालों में सबसे आगे थी, कि मानो उनके लिए 12 अप्रैल पारिवारिक मिलन का ही एक दिन बन गया था। उनमें से एक डा० इंदिराबाई निंबोगी ने (जो अपने हिंगणे निवास काल में श्रीमती यमुनाबाई साने थी) इस अवसर पर अध्यक्षता की। हिंगणे स्त्री शिक्षण संस्था के कार्यकर्ताओं और छात्राओं द्वारा आयोजित उत्सव रविवार 13 अप्रैल को मनाया गया। बंबई के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश उसकी अध्यक्षता करने के लिए पुणे गए। उसमें तीन हजार से अधिक लोग सम्मिलित हुए, जिन में स्त्री पुरुष, बच्चे पूणे के उच्च श्रेणी के लोग तथा बंबई और अन्य स्थानों से आए अतिथि थे।

बंबई में शतवार्षिकी समारोह ब्रेबार्न स्टेडियम के विशाल प्रांगण में हुआ, जिसे सुरुचिपूर्वक सजा कर आलोकित किया गया था। मंच पर स्वयं

वयोवृद्ध कर्वे बैठे थे, उनके एक ओर श्री श्रीप्रकाश थे (जिन्होंने समारोह की अध्यक्षता की) और दूसरी ओर भारत के प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू थे, जो मुख्य अतिथि बनकर इसी समारोह में भाग लेने के लिए तथा प्रोफेसर कर्वे को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए बबई आए थे।

उस सभा मे उपस्थित विशाल जन समुदाय को सबोधित करते जवाहर लाल नेहरू ने कहा था—"यह एक ऐसा चिर स्मरणीय दिवस है जैसा अन्यत्र कभी मेरे देखने मे इससे पहले नही आया। मुझ से कहा गया कि हम लोग यहा भारत के इस महान पुत्र का अभिनदन करने के लिए एकत्र हुए हैं, लेकिन मैं पूछता हू इनका अभिनन्दन करने वाले हम कौन होते हैं, मैं कौन होता हू? इनके सामने हम कितने अयोग्य है, कितने छोटे है। अत मैं इनका अभिनदन करने के लिए यहा नही आया, मैं तो आया हू इनका आशीर्वाद मागने। मे इनसे वह प्रेरणा मागने आया हू जिससे इनकी निष्ठा का, सादगी का और सद्गुणो का कम से कम एक अश हमे भी मिल सके, जिनसे इतना उन्नत चरित्र निर्मित हुआ है।"

कुछ भाषणो के बाद उन्हें उपहार दिए गए। तदनन्तर प्रोफेसर कर्वे ने स्वल्प शब्दो मे अपना उत्तर दिया। उन्होने बोलना प्रारभ किया तो वातावरण मे उनके प्रति सम्मानजन्य नीरवता छा गई थी। कुछ चुने हुए शब्दों मे उन्होंने उत्सव के आयोजको और वहा उपस्थित लोगों का धन्यवाद किया। उन्होने कहा कि यदि मै कुछ कर सका हू और उन सस्थाओ के रूप में, जिन्हें मैंने स्थापित किया और पालापोसा, आज कोई उपलब्धिया दीख रही हैं तो उनका अधिकाश श्रेय मेरे उन सहयोगियो को है जिन्होने निष्ठापूर्वक मेरे साथ काम किया, और मेरे अगणित मित्रों तथा सहायकों और समर्थकों को है। उन्होंने अपनी जीवन-सगिनी बाया का भी स्मरण किया और भावावेश म रुधते गले मे कहा कि यदि बाया ने मेरी आश्चर्यजनक रूप से सहायता न की होती और पारिवारिक ही नहीं बल्कि मेरे काम तथा सार्वजनिक जीवन से सबधित बहुत-सी जिम्मेदारियो से मुझे छुटकारा न दिलाया होता, तो मैं जो कुछ कर सका, वह कर पाना मेरे लिए सभव न होता। उन्होंने ईश्वर के

प्रति अपनी अपार कृतज्ञता व्यक्त की, जिसने उन्हें इस प्रकार अपना 101वां जन्म दिवस देखने का अद्वितीय अवसर दिया।

एक सप्ताह तक बम्बई में जब ये समारोह हो रहे थे तो उसी बीच एक और उल्लेखनीय शतवार्षिक मनाई गई। वह शतवार्षिकी भारतीय महिलाओं की अन्य उद्धारक, पंडिता रमाबाई की थी। रमाबाई, महर्षि कर्वे से केवल पांच दिन छोटी थीं। छत्तीस वर्ष पूर्व 5 अप्रैल 1922 को, उनका स्वर्गवास हो चुका था। प्रोफेसर कर्वे इस समारोह में सम्मिलित हुए। वह सभा भारत सरकार की तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अमृतकौर की अध्यक्षता में सर कावसजी जहांगीर हाल में, 23 अप्रैल को हुई। प्रोफेसर कर्वे ने पंडिता रमाबाई को अपनी संक्षिप्त, किन्तु भावभीनी श्रद्धांजलि समर्पित की। उसमें उन्होंने पंडिता रमाबाई का ऋण स्वीकार किया जिनसे अपने प्रारंभिक प्रयत्नों में उन्हें प्रेरणा पाई थी। उन्होंने यह भी कहा कि मेरी दूसरी पत्नी आनंदी बाई, जिनसे मैंने उसके विधवा होने के बाद पुनर्विवाह किया था, पंडिता रमाबाई द्वारा स्थापित शारदा सदन में रहने वाली पहली छात्रा थी। पण्डिता रमाबाई ने उस विवाह को कराने में प्रमुख योगदान किया था और अपने शारदा सदन में उस विवाह के उपलक्ष्य में प्रीति भोज का भी आयोजन किया था।

इस शतवार्षिकी जन्मोत्सव का महत्व चार प्रकार का था। यह एक अनन्य अवसर था, क्योंकि इसका नायक, इदानीं काल के भारत के गौरवशाली पुत्रों में पहला महापुरुष था, जो अपने 101वें जन्म दिवस का समारोह देखने के लिए जीवित था। दूसरे, यह अवसर एक ऐसे त्यागमय जीवन के सौ वर्षों की परिसमाप्ति का सूचक था, जिसका अधिकांश उपेक्षिता दुर्बला और गरीबों की सेवा में समर्पित हुआ था। हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए गए अभियान के मार्ग चिन्हों का स्मरण इनका शत वर्ष व्यापी जीवन वृत्तान्त करा देता था। जिसके लिए उनके सैंकड़ों देशवासी कृतज्ञ थे। यह अवसर उस कृतज्ञता का स्मारक था। इस व्यक्ति का जीवन पचास से भी अधिक वर्षों तक भारतीय नारियों के जीवन संघर्ष से तादात्म्य प्राप्त कर

चुका था। अत यह अवसर उस व्यक्ति के जीवन और मिशन की याद दिलाता था जो भारत की सर्वोत्तम प्राचीन परम्परा का आधुनिक काल में प्रकटित होने वाला मूर्त रूप था। भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय ने उनके जीवन चरित्र पर आधारित एक उत्कृष्ट वृत्त चित्र बनाया। इस प्रकार उनके चतुर्दिक महत्त्व को प्रभावशाली और स्पष्ट रूप से लोगों तक पहुंचाया गया। अंग्रेजी में महर्षि कर्वे की एक जीवनी प्रकाशित करके भी इस प्रचार कार्य को सम्पन्न किया गया। यह जीवनी, बम्बई की 'महर्षि कर्वे जन्म शती कमिटी' द्वारा प्रकाशित की गई।

1899 में महर्षि कर्वे ने 5,000 रुपयों का अपना जीवन बीमा अनाथ बालिकाश्रम के नाम कर दिया था। यद्यपि बीमा कम्पनी के नियमों के अनुसार यह धन उनकी मृत्यु के बाद ही उस संस्था को मिल सकता था, पर भारतीय जीवन बीमा निगम ने एक विशेष प्रस्ताव के द्वारा उनके जन्मशती समारोह के अवसर पर ही उसे बालिकाश्रम को दे देने का निश्चय किया।

डेकन एजुकेशन सोसाइटी के पास, जिसके प्रोफेसर कर्वे आजीवन सदस्य थे, 3,000 रुपयों की एक और पालिसी थी। इसका धन उनके उत्तराधिकारियों को मिलना था। सोसायटी ने उनके 101वें जन्म दिवस पर वह पालिसी उन्हें लौटा दी, लेकिन प्रोफेसर कर्वे ने यह धन डेकन एजुकेशन सोसायटी को वापस दे दिया।

7 मई को प्रोफेसर कर्वे अपने गांव मुरुद के लिए रवाना हुए। वहीं उन्होंने अपने बचपन के सुखमय दिन बिताए थे और वहीं बाद में उन्हें सामाजिक बहिष्कार, उत्पीड़न और अलगाव के एकाकीपन का कष्ट झेलना पड़ा था, क्योंकि उन्होंने एक विधवा से पुनर्विवाह किया था। मुरुद जाने के मार्ग में उन्हें वाई, दापोली आदि बहुत सी जगहों में रुकना पड़ा था। वहां उनके सम्मान में उत्सव मनाए गए थे। मुरुद में तीन दिनों के आवासकाल में वे सार्वजनिक समारोहों में और व्यक्तिगत निमन्त्रणों में बुरी तरह व्यस्त रहे। वहां उनके आगमन के पूर्व पूरे बारह महीनों से तैयारियां हो रही थीं और उनके पहुंचने से बहुत पहले से ही उस नगर में काफी उत्साह और चहल पहल

रुचि या आग्रह नही था। वह साय प्रात चाय लेते और दोपहर तथा रात को
सादा भोजन करते। रात को वह अच्छी नींद लेते थे।

यद्यपि अपना समय बिताने के लिए उन्हें लोगो का साथ बहुत अच्छा
लगता था, और सभाओ तथा शादी-ब्याह और गृह-प्रवेश जैसे नाते वे झटपट
स्वीकार कर लेते थे, लेकिन उसी तरह वह घटो एकाकी रमण भी करते थे।
एकात या अकेलेपन की शिकायत उन्होने कभी नही की। जब दिनकर और
इरावती अपने काम पर चले जाते, तो उन्हें प्राय अकेला ही रहना पडता
था।

जन्म शती के चौदह महीने के बाद, जून 1959 मे, प्रोफेसर कर्वे को
मूत्राशय की उरस्थ ग्रन्थि के सूजने से कष्ट होने लगा। यह तीसरा मौका था
जब उन्हे अस्पताल जाना पडा। 81 और 91 वर्ष की आयु मे, दो बार पहले
भी, उन्हें यह कष्ट हो चुका था और बिना शल्य चिकित्सा के ही वह
आश्चर्यजनक रूप से ठीक हो गए थे। 101 वर्ष की परिपक्व अवस्था मे
उनका आपरेशन कराना निरापद नही था। पर दूसरा कोई उपाय भी न
दिखता था। काफी सोच विचार और सलाह मशविरे के बाद आपरेशन हुआ।
उसमे आशातीत सफलता मिली। इतने वयस्क होते हुए भी उन्होने उसे अच्छी
तरह झेल लिया था। वह धीरे धीरे सानन्द स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। पूर्ण
स्वस्थ होते-होते उन्हे पाच महीने लग गए।

बीमारी से कुछ महीने पहले महर्षि कर्वे को अपने कनिष्ठ पुत्र भास्कर
और पुत्रवधू कावेरी के साथ रहना पडा, क्योकि डा० डी० डी० कर्वे और
उसकी पत्नी ने अमरीका मे एक व्याख्यान माला देने का निमन्त्रण स्वीकार कर
लिया था। उन दिनो हिंगने मे हर समय बिजली नही मिलती थी, इसलिए
अपना दैनिक रेडियो कार्यक्रम यथासमय न सुन पाते थे। अब वह अपना
अधिकाश खाली समय पढ़ने में बिताने लगे। कभी कभी उन्हें अपनी क्षीण
होती हुई नेत्र प्रभा का ख्याल आता। उनकी दोनो आखो मे मोतियाबिंद का
आपरेशन हो चुका था। लेकिन आपरेशन के बाद केवल एक ही आख मे
ज्योति रह गयी थी। अगर उनसे कहा जाता कि उस नेत्र को अधिक न थकाए

तो वह बात नहीं मानते थे। क्योंकि उनके कानों ने भी लगभग पूरी तरह से काम करना छोड़ दिया था और उनके लिए दुनिया से सम्पर्क रखने का एकमात्र साधन पढ़ना ही रह गया था। जीवन के अंतिम वर्ष उन्होंने भास्कर और कावेरी की प्रेमपूर्ण देखरेख में बिताए। वे ही उनके आंख कान बन गए थे।

अब प्रो० कर्वे अधिकाधिक अंतर्मुखी होते जा रहे थे। अब वह अपने विगत जीवन तथा कई अन्य बातों के बारे में जिन्हें उन्होंने सुना या पढ़ा था, सोचते रहते। इनमें मानव इतिहास और पृथ्वी का विकास जैसी कई बातें शामिल थीं। प्रायः वह इन स्मृतियों का आवर्तन ऐसे जोर जोर से करते मानो कि भाषण दे रहे हों। जो लोग उन्हें इस प्रकार बोलते हुए सुनते, उनके लिए वह काफी मनोरंजन होता था। पर जब वह अपनी इन स्मृतियों को रात में भी जोर जोर से दोहराते तो उनके साथ उसी कमरे में सोए हुए लोग कभी कभी डर जाते। कभी वह कोई गणित का सवाल दुहराने लगते और कभी वह कुछ बोल कर लिखाने लगते। सम्भवतः उसे उन्होंने कई वर्ष पहले अपनी किसी कक्षा में बोल कर लिखाया होगा। मराठी और संस्कृत के पद्यों का पाठ करने का चाव उनको पुराने समय से था। अब वह उसे पहले की अपेक्षा अधिक ऊंचे स्वर से करने लगे थे।

बढ़ती हुई आयु के साथ आने वाले परिवर्तनों के बावजूद उनके हृदय में शिव और सुंदर के माधुर्य के लिए स्वाभाविक सुकुमार आकर्षण और प्रेम यथावत बना रहा। किसी खग विहग या सुमन अथवा रंग बिरंगे छोटे से पत्र को ही देखकर वह आनन्द विभोर हो उठते। उसके मृदु सौंदर्य को अपने स्पर्श से भ्रष्ट करना उन्हें भाता नहीं था। सुवासित पुष्प की सुगंध के लिए वह कुछ क्षणों के लिए उसे नाक के पास ले जाते और कहते—"यह कितना सुंदर और कितना मधुर है। इसे ले जाकर पानी में रख दो, ताकि इसका नूतन लावण्य देर तक बना रहे।"

जीवन के अंतिम [redacted] महीनों में उनकी अठारह महीने की प्रपौत्री साधना उनकी चिर सहचरी बन गई थी। वह उनके साथ खेलती। वह चलते तो वह

उनकी अगुली पकड लेती और उनके आगे आगे चलती, अपनी मिठाई मे से उन्हे हिस्सा देती और उनसे बातें करती तथा उनकी बातें सुनती। प्राय वह उनके कान में कुछ ऐसी बात कहती जो केवल उन्हीं दोनों के बीच की होती। उसे इस बात की चिन्ता न होती कि जो बात मैं उन्हें बताना चाहती हू परदादा उसे सुन या समझ भी सकते हैं या नहीं।

उनकी अंतिम अस्वस्थता अल्पकालिक और आकस्मिक थी। उनके सह-कर्मियो, शिष्या मित्रो तथा हिंगणे के कार्यकर्ताओं ने 18 अप्रैल 1962 को उनका 106वा जन्म दिन भव्य और विशाल रूप से मनाने की योजना बनाई थी। जिसने एक सौ चार वर्ष निरवरोध पार कर लिए हो, उसका शरीर शांत होना कोई अनहोनी या असामयिक घटना नही मानी जा सकती। लेकिन महर्षि कर्वे, जो *अपने जीवन की लम्बी अवधि मे, पिछले दो-तीन बरसो के* अन्दर ही दो-तीन बीमारियो पर विजय पा चुके थे, जब सिर्फ आठ घटो की अस्वस्थता के बाद जाते रह, तो उनका वियोग उनके छात्रों और सहकर्मियों को एक आकस्मिक आघात जैसा ही लगा। वे इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। उस समय वे अपने सारे ध्यान और सारी शक्ति के साथ उनके 106 जन्म दिवस को मनाने की तैयारी करने मे लगे हुए थे।

उनकी यह अन्तिम बीमारी बुधवार 7 नवम्बर 1962 को तडके सवेरे या उससे पहले देर रात को शुरू हुई। उन्होंने पेट के दर्द की शिकायत की। डा० यशवत राव पाठक ने बुध और बृहस्पतिवार को औषधि आदि देकर उपचार किया, उसका अनुकूल प्रभाव पडा। बृहस्पतिवार की रात, सवा नो बजे, आशा की एक किरण देखी, तब उनमे इतनी शक्ति थी कि वह बिना किसी का सहारा लिए बिस्तर पर इधर उधर करवट ले सके थे। लेकिन वह आभास मिथ्या था। जीव लोक या तो अभी निद्रा मग्न था अथवा वह पूर्वी क्षितिज में उषाकालीन अरुणोदय की स्वागतपूर्ण प्रतीक्षा कर रहा था, उसी समय *हिंगणे का वह महान वृद्ध पुरुष,* एक बगले मे लेटे-लेटे *जिसमे साठ वर्ष पूर्व* उसने अनाथ बालिकाश्रम की स्थापना की थी, अपने प्रियजनो और अपनी चिर-सचित उपलब्धियो से विदा होने को प्रस्तुत था। अपने कोमल और विशाल हृदय का स्पन्दन बन्द होने के घटा भर पहले उसके मुह से कुछ शब्द

निकले, वही उसके अंतिम शब्द थे—"मुझे दूसरी करवट लेने दो, मुझे 'वहां' जाना है।"

कुछ महीने पहले अपने एक साथी से, जो उनके छात्र भी रह चुके थे, उन्होंने कहा था—"मैं अब एक सौ चार वर्ष का हो गया हूं। मुझे गुरुजनों का आशीर्वाद मिला था और मित्रों ने मेरे लिए शुभ कामना की थी कि मैं शतायु होऊं, उसकी पूर्ति हो चुकी है। अब मैं शांति और प्रसन्नता से मर सकूंगा।"

उनका पलित मौलि, धवल, लघुकाय आनन तकिये पर प्रशांत पड़ा हुआ था, वह उनकी इच्छानुकूल शांत और प्रसन्न अवस्था में परलोक गमन का सूचक था।

हिंगने के उस छोटे से बंगले से उनके महाप्रयाण की सूचना देश के कोने-कोने, बल्कि सारी दुनिया में फैल गयी। उनकी जीवित संतति में सबसे बड़े पुत्र डा० एस० डी० कर्वे ने पूर्वी अफ्रीका में, दिनकर और इरावती ने महाबलेश्वर में, नई दिल्ली में भारत के राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री नेहरू ने तथा अन्य सभी जगहों पर सैकड़ों और हजारों की तादाद में उनके प्रशंसकों, मित्रों और छात्रों ने यह दुखद समाचार चुपचाप सुना और अकथनीय वेदना का अनुभव किया।

जवाहरलाल नेहरू ने अपने शोक संदेश में कहा—"कहते हैं कि डाक्टर कर्वे अब नहीं रहे। लेकिन उनकी जीवनी और उनका इस परिपक्व आयु में मरण महान कठिनाइयों का सामना करते हुए उनकी विजयपूर्ण सफलताओं की गाथा है। वह सब अर्थों में महान थे और भारत को उन पर गर्व है। उनकी स्मृति चिर-स्थायी रहेगी।"

जैसा प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा, महानतम कठिनाइयों पर विजय पाने की और सफलताओं की यह गाथा, एक सीधे सादे मानव की जीवनी है, जो अपनी महानता से स्वयं अवगत हुए बिना ही उसके शिखर पर पहुंच गया था, वह जीवन गाथा यद्यपि यहां समाप्त होती है, लेकिन उनके त्यागमय निस्वार्थ सेवा के श्रम से भरपूर समर्पणमय सरल जीवन की स्मृति एक स्थायी स्मारक की तरह सदा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

अध्याय 19

उपसहार

एक षोडषी कन्या जब आश्रम के भाऊबीज के फड के लिए धन सग्रह करने के अभियान से लौटी तो उससे अन्ना ने कहा था— 'यदि मुझे अपने तैंतीस करोड देशवासी एक एक पैसा भी दें तो मैं बिना कठिनाई के अपनी सस्थाए चला सकता हू।' वह लडकी अपनी सहेलियो के बीच गर्वोक्ति कर रही थी कि किसी ने मुझे चार आने प्रदान करने चाहे थे, लेकिन मैंने ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। अन्ना ने यह सुना तो उसे बुलावा भेजा और कहा कि तुमने भूल की है। उन्होंने उसके मन पर इस भाव को अकित करना चाहा कि महत्व दान की रकम का नही है, पर उससे सयोजित भावना और विचार महत्वपूर्ण है।

महर्षि कर्वे अपने लिए 'भट्टजी' सम्बोधन और लोगो द्वारा उनसे तदनुकूल व्यवहार किया जाना पसन्द करते थे। 'भट्ट' का अर्थ है ऐसा ब्राह्मण जिसकी आजीविका का साधन दान हो। महर्षि कर्वे अपनी सस्थाओ की आजीवन सेवा के लिए याचक बन चुके थे। साठ से भी अधिक वर्षों तक वह आश्रम के लिए, विद्यालय के लिए विश्वविद्यालय के लिए, ग्राम शिक्षा योजना के लिए और समता सघ के लिए धन सचय करते रहे। 1886 मे, जब किसी सस्था की स्थापना करने का उन्हें ध्यान भी नही आया था, यहा तक कि अपना दूसरा विवाह करने के भी पहले, उन्होंने मुरुद फड स्थापित करने म पहल की थी। जब वह न्यू इगलिश स्कूल मे काम कर रहे थे, उन्होंने छात्र फड चलाया। उनकी अर्थ-सचय करने की क्षमता अनुपम थी। उनका उत्साह

परिस्थिति अनुकूल न होने पर भी कठिनतम काल में प्रकृष्टतम रहता था। दान और चंदे के लिए उन्हें धनिकों की अपेक्षा नहीं थी। एक बार, जब एक धनी सज्जन के द्वार पर उन्हें कुछ अप्रिय अनुभव हुआ, तो उन्होंने अपने साथ आए प्रोफेसर माइदेव से कहा— आप मुझे यहां क्यों ले आए? क्या मैंने आप से यह नहीं कहा था कि मैं किसी धनी आदमी का दरवाजा नहीं खटखटाना चाहता? उन्होंने अपनी संस्थाओं के विवरणों में गर्वपूर्वक यह स्वीकार किया था कि वे संस्थाएं उसी सहायता के सहारे फल फूल रही हैं जो उन्हें मुख्यत मध्यम वर्ग के लोगों से मिली है।

जब उनकी एक संस्था को उसे मिलने वाली एक बडी वार्षिक रकम से वंचित कर दिया गया तो महर्षि ने हाथ में भिक्षापात्र लिया और निकल पडे। वह शहरों, कस्बों और गांवों में गए। उन्होंने साधारण लोगों से याचना की और अपनी यत्किंचित आय में से उन लोगों ने जो कुछ भी दिया, उसे उन्होंने स्वीकार किया। इस याचाटन में वे दक्षिण सतारा जिले के विटा नामक एक नगर में भी गये। उस नगर के स्थानीय वाचनालय में एक सभा आयोजित हुई। उन्होंने कोई लम्बा भाषण नहीं दिया। श्रोताओं से केवल अपनी संस्थाओं और उनकी कठिनाइयों की चर्चा के बाद उनसे सहायता की प्रार्थना की। उपस्थित जनता में सहानुभूति पैदा हो गई। उनके बैठते न-बैठते लोग स्वयं आ आ कर चंदा देने लगे। कुछ लोगों ने पचास पचास रुपये दिए, कुछ ने बीस बीस या दस दस, कई लोग भी थे जो एक रुपए से अधिक न दे सके। दाताओं की सूची बडी तेजी से लम्बी होती जा रही थी कि एक आदमी उठा और उसने एक पैसा देने की उच्च स्वर से घोषणा की। उसके बाद वह उस मेज के पास गया जहां अध्यक्ष तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग बैठे थे। उसने मेज पर एक पैसा रखा और लौट आया। उपस्थित लोगों को उसका यह व्यवहार बडा अनुचित लग रहा था। लेकिन प्रोफेसर कर्वे ने स्वयं उस पर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टिपात किया। इसलिए किसी ने कुछ नहीं कहा। जब दान की सूची पूरी हो गई तो प्रोफेसर कर्वे उन लोगों को धन्यवाद देने के लिए पुन उठे, जिन्होंने उनकी प्रार्थना पर दान दिया था। बोलते समय उन्होंने वह पैसा हाथ में ले लिया और एक बार फिर कृतज्ञतापूर्वक उस

आदमी की ओर देखा। उस पैसे का प्रतिग्रह करने के लिए उन्हें एक विशेष बात कहनी थी। उन्होंने कहा—

'मैं इस सहायता का मूल्यांकन रुपए आने पाई से नहीं करता हूं। यह पैसा एक सहानुभूति पूर्ण व्यक्ति के द्वारा दिया गया है। निश्चय ही उसे दान की प्रेरणा इस इच्छा से प्राप्त हुई होगी कि मैं जिस कार्य को अच्छा समझता हूं उसमें सहायता करूं। इस प्रकार के उदारतापूर्ण व्यवहार से ही मुझे अपने साधारण-से कर्म के प्रति मित्रों और शुभेच्छुओं के अनुमोदन का पता चलता है और अपने भावी प्रयत्नों के लिए मैं उनसे शक्ति और साहस भी प्राप्त करता हूं।"

महर्षि कर्वे का जीवन वृत्तांत और उनके कार्य जितने महान थे, उनसे महानतर वह स्वयं थे। संक्षेप में उस महानता का पर्याय है सादगी। उनके जीवन चरित्र तथा उनके द्वारा सम्पादित कामों में उनके मित्रों, सहकर्मियों और प्रशंसकों ने बहुविध अनुपम गुण देखे। उनमें से एक ने उनके जीवन का साफल्य सूत्र उस आकाश की अर्जुनोपम दृष्टि में पाया 'जो केवल व्यक्तिगत कल्पना की शक्ति से ही प्रभावान नहीं थी बल्कि एक महामानव की उदार कल्पना को क्रिया में परिणत करके अपनी भावना की सेवामयी योजना के संकल्प को साकार बनाने को अग्रसर हुई थी।" डा० आर० पी० परांजपे का कथन है कि अन्ना का जीवन से आदर्शवाद, अनंत कार्यक्षमता और उच्च नैतिक भावना की एक महान शिक्षा मिलती है। जिन्होंने अन्ना के मानव की सेवापूर्ण जीवन के विभिन्न चरणों को देखा और उनका अध्ययन किया, उनका कहना था कि उनका मस्तिष्क ही ऐसा निर्मित था कि उसका विकास कभी रुका ही नहीं और वह निरंतर विकसित होते हुए कार्य क्षेत्रों के लिए अपनी उपयोगिता की क्षमता को बढ़ाता चला गया। यह भी सच है कि उनके अन्तरंग शिष्य और घनिष्ठ मित्र भी कभी कभी उनके विचारों और कार्य प्रणाली को समझने अथवा उनका मूल्यांकन करने में असफल रहते थे। उनमें से एक ने जब अन्ना को पार्वतीबाई, नाना आठवले, सीताबाई अण्णेगेरी और वेणूबाई नामजोशी जैसी कुछ कार्यकर्ताओं पर अधिक भरोसा करते देखा तो उसे ईर्ष्या हुई और उसने उन पर प्रच्छन्न रूप से पक्षपात का आरोप लगाया। लेकिन

धीरे धीरे, जब उसने अनुभव किया कि अन्ना उन कार्यकर्ताओ की केवल असन्दिग्ध और निस्वार्थ निष्ठा की कद्र करते हैं तो उसका विरोध जाता रहा। पर पार्वतीबाई ने आश्रम के काम को अपने जीवन का एक मात्र ध्येय किस प्रकार बना लिया ? नाना आठवाले ने अपने जीवन भर की बचत (एक लाख रुपए) आश्रम को क्यों दे दी थी ? गगूबाई के पास जो कुछ धन बचा था, वह उन्होने आश्रम को क्यो सौंप दिया था ? और क्या कोई ऐसा काम था, जिसे सीताबाई उस आश्रम के लिए न कर सकती थी जिसने उन्हे नया जीवन दिया था ? प्रोफेसर माईदेव ने जब इन सब बातो पर विचार किया तो वह स्वय उस क्षुद्र ईर्ष्या के लिए लज्जित हुए जिसे कुछ समय तक उन्होने अपने मन मे पाला था। जब उनके मन से वे सकीर्ण भाव जाते रहे तो उन्होने देखा कि अन्ना कैसे अपने सहयोगियों की लगन और निष्ठा की कदर करते हैं। वह अपने किसी भी कार्यकर्ता को सलाह या डाट फटकार नही दिया करते थे। वह तभी हस्ताक्षेप करते थे जब उनको निश्चय हो जाता था कि अब मार्गदर्शन की आवश्यकता है। लेकिन ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। इस प्रकार वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सहयोगियो की स्वेच्छा से प्रेरित प्रयत्नों की सफलता का पूर्ण अवसर देते थे। ऐसा वह इसलिए कर पाते थे कि उन्हे निश्चय था कि सीमित क्षमता वाले व्यक्तियो मे भी यदि आत्मविश्वास हो तो वे भी महान कार्य कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रोफेसर माइदेव जैसे निष्ठावान कार्यकर्ताओ का भी प्रशिक्षण हुआ इसी तरह वे अन्ना की वास्तविक महत्ता को पहचान सके थे। यह अन्ना की विनम्रता की ही महानता थी। उनके हृदय मे इतनी सहानुभूति थी कि उनकी दृष्टि मे कोई व्यक्ति इतना छोटा नही था जिसे वह अपना भाई या सहकर्मी नही बना सकते थे।

यदि कभी कोई उनसे पूछ बैठता कि आप भडारकर, रानाडे विष्णु शास्त्री पण्डित अथवा आगरकर जैसे नेताओ के साथ अपने सम्पर्क के बारे में कुछ कहे तो उसे यह उत्तर मिलता—

'वे असाधारण गुण सम्पन्न विभूतिमान पुरुष थे। मैं तो केवल उनका अनुगामी हू।" यह उत्तर जान मार्ले की उक्ति का स्मारक है, जो उसने जान

स्टुअट मिल के बारे मे की थी, क्योंकि उसके चरणों म बैठकर उसने शिक्षा पाई थी—'वह य ज्ञान और मानवता की महान ज्योति के पुज, और मैं तथा मेरे जैसे अ य लोग उस परोपकारपूण दीपक से अपनी तुच्छ वातिया प्रदीप्त करते थे।" मार्ले की ही तरह कर्वे भी यह कहते कि मैंने राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रानाडे और विष्णु शास्त्री पण्डित जैसे अपने पूववर्ती सुधारकों के द्वारा परोपकाराय प्रदीप्त ज्योतिमय दीपकों से अपनी साधारण बत्ती मात्र देखने के लिए जलाई है। लेकिन समय पा कर वही तुच्छ बाती एक प्रकाशमान दीपक बन गई और अब भी वह अपने ज्योति किरण दूर-दूर तक फला रही है। फिर भी जिस व्यक्ति ने उसे प्रदीप्त किया था और फिर एक सौ पाच वर्षों की लम्बी अवधि तक उसे सजोये रहा, वह उसे एक साधारण बत्ती से अधिक कुछ नहीं समझता था।

यह व्यक्ति उन लोगो के प्रति सदा अपनी सहानुभूति क्यों रखता था जो समाज द्वारा उपेक्षित तथा हेय थे अथवा पतित माने जाते थे ? उन लोगों के लिए उसका हृदय क्यो विदीर्ण था, जिनके घावों की मरहम-पट्टी वर्षों मे बल्कि सदियों से नहीं हुई थी ? वह यह समझने को कैसे प्रेरित हुआ कि समाज सुधार और सामाजिक न्याय की सभी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक सुलझाना चाहिए ? किसने उनमे मनुष्य मात्र मे समता स्थापित करने का प्रयत्न करने के लिए इच्छा जगाई थी ? क्यो वह कहीं भी कोई सम्माननीय पद ग्रहण करने के प्रति—यहा तक कि अपने द्वारा स्थापित सस्थाओ में भी सदा उदासीन तथा अनिच्छुक रह थे।

इन सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है। वह अपना जो मूल्यांकन करते थे, उसमें ही इसका समाधान पाया जा सकता है। बचपन से उन्हें यह सीख मिली थी कि तुम अपने आपको एक साधारण कार्यकर्ता समझो। अक्सर वह अपनी सकोचशीलता को अपनी एक कमी मानकर उसकी निन्दा करते और उसके लिए कभी-कभी अपने आपको कोसते भी थे। लेकिन यह भी सच है कि इस प्रकार अपनी अवमानना करना उनका अपने प्रति अन्याय था। अपने दीर्घ-जीवन मे वह सदा अपने आप से ही अपरिचित रहे। उनकी विनम्रता ने उन्हें जिन ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया था, वह उनसे अनभिज्ञ थे। इसने उन्हें

इस योग्य बना दिया था कि वे शिकायत किए बिना ही दुर्भाग्य का सामना कर सकते थे और सफलताओ, सम्मानो तथा विशिष्टताओं को निर्लिप्त भाव से ग्रहण लेते थे।

आज धोंडो केशव कर्वे का स्मरण भारत मे और भारततर देशो मे भी महर्षि कर्वे के रूप मे होता है। जीवन के सन्ध्याकाल में वह अपने देशवासियो की प्रशसा और कृतज्ञता के पात्र बन चुके थे। सभी उनका एक महर्षि के रूप में आदर करते थे। महर्षि की उपाधि भारत मे प्राचीन काल से चली आ रही है। आज तक हिदुओ के लिए उनकी जीवन पद्धति, दर्शन और रहन-सहन का अक्षुण्ण आदर्श, वेदो और उपनिषदो के ऋषि, जो योगी भी थे, अपनी शिक्षा और उदाहरण से प्रस्तुत करते चले आए हैं। इन आदर्शों का सार श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक मे दिया गया है जो महर्षि कर्वे के जीवन का प्रकाश-स्तम्भ था।

> आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
> सुख वा यदि वा दुख सयोगी परमो मत ॥ 6-32 ॥

(जो समस्त प्राणियो को अपने ही समान जानकर सबको समभाव से देखता है और सुख तथा दुख को भी समभाव से देखता है, वह परम श्रेष्ठ योगी है।)

प्रत्येक हिदू इस शिक्षा को आदर्श के रूप मे स्वीकार करता है। बहुत से लोग इसका अभ्यास करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक ऐसा आदर्श है जिस तक पहुचना कठिन है और इसको पाने मे वे ही सफल होते है जो निष्क्रिय त्याग द्वारा नही बल्कि सेवाभाव से कर्म करते हुए निरन्तर अथक परिश्रम द्वारा इसे पाने का प्रयत्न करते हैं। महर्षि कर्वे उन थोडे से लोगों में से थे, जिन्हे इसमे पूरी सफलता मिली।

यदि उनसे पूछा जाता कि "आपको एक बार यही जीवन फिर से बिताने को मिलता तो आप उसमे क्या परिवर्तन करना चाहते ? इस जीवन मे से क्या छोडते और क्या रखते ? तो वह उत्तर देते—"बिना उसमे कुछ जोडे और हेर फेर किए मे उसे फिर इसी तरह जीता।"

अपनी आयु के अंतिम वर्षों में उन्हें अपने जीवन तथा कार्यों से भरपूर सन्तोष था। उनकी आत्मकथा 'लुकिंग बैक' में न तो कोई पछतावा है, न 'यदि ऐसा हो सकता' की कोई लालसा।

महर्षि कर्वे सन्यासी नहीं थे। वह अपने जीवन में पूरा विश्वास रखकर उम्र भी खूब जिए और सब की भलाई के लिए उन्होंने उसका उपयोग किया। वह सदा देते ही रहे, अपने लिए उन्होंने कभी कुछ प्रतिग्रह नहीं किया। उनका जीवन क्षुद्रता को सर्वथा मिटाने का सतत प्रयास मात्र था। असफलता, सफलता, आपत्ति अथवा कीर्ति ने इस प्रयास की धारा बदली नहीं।

उनकी समस्त आकांक्षाओं और प्रयत्न के मध्य में धर्म का स्थान सर्वोच्च था। वह इस सत्य से अभिज्ञ थे कि "मनुष्य के द्वारा किये गये समस्त व्यक्तिगत प्रयत्न इतने क्षीण और अशक्त होते हैं कि केवल उसके अपने आयास से वह कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः उन्होंने दृष्ट तथा अदृष्ट शक्तियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है, जो उनकी सहायक रहीं और जिन्होंने उन्हें सफलता प्रदान की। उन्होंने अपने जीवन चरित 'लुकिंग बैक' में अपने जीवन की ऐसी अनेक घटनाओं की चर्चा की है जो उनकी दृष्टि में असाधारण परिवर्तन कारक थीं। जैसे—अठारह साल की आयु में अंग्रेजी पढ़ने का सुयोग, पहली पत्नी की मृत्यु जो उन्हें एक विधवा से पुनर्विवाह की ओर ले गई, फर्गुसन कालेज का आमन्त्रण जिसके कारण उन्हें मराठा हाई स्कूल की अध्यापकी को और बम्बई को छोड़कर पूणे में अपना घर बसाना पड़ा, उस विवरण पत्रिका का मिलना जिसमें जापान के महिला विश्वविद्यालय की सूचना थी, सर विट्ठलदास ठाकरसी का दान। इन और बहुत सी अन्य घटनाओं ने उनके विश्वास को और सुदृढ़ किया कि कोई निर्णायक अदृष्ट शक्ति उनके समस्त कार्यों का और उनकी जीवनधारा का संचालन करती रही।

धर्म, नैतिकता और दर्शन के विषय में उनके विचार प्रगतिशील थे जो उनके निरन्तर अध्यवसाय का परिणाम था। जीवन के आरम्भिक वर्षों में

नरहरपंत जोशी से घनिष्ठ मित्रता के फलस्वरूप इन विचारों को उचित प्रकार से प्रस्फुटित करने में उन्हें सहायता मिली थी। जैसाकि उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'नरहरपंत की मित्रता के बाद उनके साथ इस तरह के विषयों पर विचार विनिमय के परिणामस्वरूप मुझे और स्वतन्त्र चिंतन करने की क्षमता प्राप्त हुई। उसका फल यह हुआ कि ईश्वर, पाप और सदाचार सम्बन्धी मेरी वे धारणाएं, जिनका शुरू से मेरे मन में आग्रह था, हटने लगीं और धीरे धीरे विलुप्त हो चलीं।

क्या महर्षि कर्वे का ईश्वर में विश्वास था? था और नहीं भी था। जीवन भर उन्होंने यह जानने का प्रयास किया कि क्या ईश्वर की सत्ता अपने आप में स्वतन्त्र अलग व्यक्ति की तरह है? इस विश्वास में कि कोई एक ऐसा ईश्वर है जो विश्व-ब्रह्माण्ड से अलग रहता है और मनुष्यों के भाग्य का नियन्ता है तथा जिसे प्रार्थना और पूजा से प्रसन्न किया जा सकता है, उन्हें आध्यात्मिक सन्तोष नहीं मिल सका। तथापि वह एक सर्वोच्च परमात्मा में विश्वास करते थे, जो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। व्यक्ति को उसे परम सत्ता के साथ अपना ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए और ऐसा वह कर भी सकता है। मनुष्य का आदर्श, जिस पर उसे अपनी दृष्टि स्थिर रखनी चाहिए, इतना उच्च होना चाहिए कि उसे पग पग पर ऐसा अनुभव होता चले कि मैं उस सर्वान्तर्यामी के साथ अपना अभेद स्थापित कर रहा हूं। उन्हें जो भी श्रेयस्कर वस्तुएं प्राप्त हो सकीं, उनके लिए अनेक बार उन्होंने उस महेश की शक्ति के प्रति अपना आभार स्वीकार किया। 1953 में महाराष्ट्र सामाजिक सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने अपने लम्बे जीवन को ईश्वर का अनुग्रह माना था। परन्तु धर्म में आस्था रखने वाले लोग जिसे दैवी सहायता कहते हैं, उस पर उन्होंने अपने को कभी पूर्णतया आश्रित नहीं रखा। उनका जीवन और मान्यताएं एक ऐसे साहसपूर्ण सत्य का उल्लेखनीय दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं जिसके बारे में एक बार ईसाइयों के महान धर्माचार्य, कैंटरबरी के आर्चबिशप डा० विलियम टैंपल ने कहा था—"यह समझना बहुत बड़ी भ्रान्ति है कि ईश्वर केवल और विशेष रूप से, 'धर्म से ही सम्बद्ध है।" महर्षि कर्वे का कोई धर्म भले ही न रहा हो, उनमें एक अन्तरंग धार्मिकता

थी। ससार मे विभि न मजहबो की स्थापना होने के बहुत पहले से मनुष्य मे धार्मिकता विद्यमान थी। यह शक्ति उन्हे अपने को शुद्ध करने, ऊचा उठाने और पूर्णता के साथ आदर्श की प्राप्ति का प्रयास करने की क्षमता प्रदान करती थी। अपने आपको शुद्ध करने, ऊचा उठाने और पूर्णता प्राप्त करने की यह लालसा ही महर्षि कर्वे के जीवन की प्रेरक शक्ति थी। यदि उनमें वैराग्यमय जीवन बिताने और केवल उपदेश की वृत्ति के प्रति प्रगाढ अरुचि न होती तो वह भी परम आदरणीय शकराचार्यो की गद्दी को सुशोभित करते होते। उनका एक सन्यासी का सा सयत, निर्लिप्त मानसिक दृष्टिकोण था तथा वैसी ही नैतिक वृत्ति थी। पर उसके साथ उन्हे मिली हुई थी एक अश्रान्त कार्य करने की इच्छा, जो इसी जन्म मे यही और अभी मुक्ति की माग करती थी। धर्म के प्रति किसी निश्चित मान्यता के प्रति आग्रह रखने वाले लोग उन्हे एक ऐसा ऊचा पुजारी मानना अधिक पसन्द करेंगे जो एक लौकिक लक्ष्य का वरण कर के उसकी ओर बढता रहा। महर्षि कर्वे के लिए यह अधिक महत्व नही रखता था कि कोई व्यक्ति सही है या गलत। उन लोगो के प्रति उनकी सहानुभूति ही नही बल्कि प्रशसा का भाव भी रहता था जो सावधानी के साथ स्वतन्त्र चिन्तन करने के बाद अपने लिए एक मार्ग चुन लेते थे, भले ही कर्वे उनकी कार्य प्रणाली को अथवा चिन्तन पद्धति को पसन्द न करते हो। उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रोफेसर आर० डी० कर्वे ने अपने सन्तति निरोध के विचारो का प्रचार करने के लिए जो कुछ किया, आरम्भ में उन्होने उन सब बातों का अनुमोदन नहीं किया था, लेकिन जिस निर्भयता से वह अपने विचारो का प्रचार कर रहे थे और जिस निष्ठा से वह उसमे लग रहे, उसकी उन्होने सराहना की थी।

वह अधिकाश बूढे व्यक्तियों की भाति अपने जीवन से कभी ऊबे नही और सौ बरस के हो जाने के बाद भी वे जीवन को चलाए रखने के भार से थके नही। अपने से कम आयु के लोगो से जो सक्रियजीवन से अवकाश प्राप्त करने की बातें करते थे, उन्होंने कहा था—

"मैं सौ बरस तक जिया हू फिर भी मैंने कभी अवकाश प्राप्त करने की बात नहीं सोची।"

वह 18 अप्रैल 1953 को अपने 96 वें जन्म दिवस पर, फर्गुसन कालेज के सभा भवन मे, महाराष्ट्र सामाजिक सम्मेलन का उदघाटन करने गये थे। अपनी कनिष्ठ पीढी के नेताओं और कार्यकत्ताओ से मिलने का सुयोग प्राप्त करने की उन्हे प्रसन्नता थी। उन्होने अपने भाषण का आरम्भ अपने हृदय की कृतज्ञतापूर्ण स्मृतियो से किया—

"महाराष्ट्र के लिए यह एक विशेष दिवस है। इस सामाजिक सम्मेलन की स्थापना जस्टिस रानाडे ने की थी पर उसका अधिवेशन बीस बरसो से नही हुआ था। आज बीस बरसो के बाद पहली बार हम लोग इसका अधिवेशन करने के लिए यहा एकत्रित हुए हैं। सम्मेलन के इस अधिवेशन को करने के लिए उसके विषय मे आवेदन करते हुए उसमे सम्बन्धित जिन स्वर्गीय नेताओ के नामो का उल्लेख किया गया है उन सब से मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मेरा इससे भी अधिक सौभाग्य यह था कि उनमें से अधिकाश लोगो के कामो को देखने का भी मुझे अवसर मिला। उनम से कुछ का तो म समकालीन होने का दावा भी कर सकता हू।"

उन आरम्भकालीन महापुरषो की चर्चा करते समय भावातिरेक से उनका स्वर गद्गद् हो आया।

उन सघषमय आरम्भिक दिनो मे जिन लोगो ने लडाइयो मे भाग लिया था, वे सभी अब स्वगवासी हो चुके हैं। एक मै ही पीछे छूट गया हू—गुजरी हुई पीढी एक एकमात्र जीवित प्रतिनिधि। समाज सुधार की जो मशाल उन लोगो ने जलाई थी उसे मैं अकेले अपन हाथो मे उठाये रहा। अब मैं उसे उठाए रखने के लिए बहुत बूढा हो गया हू। इसलिए मैं उसे आपके हाथो म देने के लिए यहा आया हू।"

इस प्रकार मशाल को एक सन्देश के साथ, उन्होने सम्मेलन के अध्यक्ष जस्टिस गजेन्द्र गडकर और सम्मेलन के प्रतिनिधियो के हाथो म थमा दिया। वह पुराने जमाने के पैगम्बरो की तरह बोले लेकिन उनके मुह से जो शब्द निकले, वे वसे ही नये और ताजे थे जैसा कि वह युग था जिसमें वह सम्मेलन हो रहा था।

'मेरा जन्म तब हुआ था जब 1857 का स्वतन्त्रता का सग्राम अभी

समाप्त नही हुआ था। मैंने इन आखों से ब्रिटिश शक्ति की पराकाष्ठा देखी है और इसी भूमि से उसके निर्वासनोन्मुख अंतिम पगों को भी देखा। मैंने भी आप की ही तरह राजनैतिक दासता के गत से निकलते हुए नवोदित सूर्य के समान स्वतन्त्र भारत के उदभय का गौरवपूर्ण दृश्य निहारा है। आज हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र है, लेकिन अभी उस गौरवशालिनी स्वतन्त्रता के अंतराल म एक रिक्तता है। अभी हम एक पदार्थ नही पा सके हैं जिसके बिना हम अपनी स्वतन्त्रता के माधुर्य का रसास्वादन न कर पाएंगे—और यह है सामाजिक समता।"

महर्षि न अपनी पुरानी पीढी की समस्याओ और उपलब्धियों की चर्चा नही की। उन्होने केवल एक आदश की अभिव्यजना की जो अब भी बहुत दूरवर्ती दृष्टिगोचर हो रहा था। उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति से भी वे लोग अपने को उस आदश के निकट नही ला पाये हैं।

उन्होने एक अनुतापपूर्ण स्वर मे कहा, "बल्कि ठीक उसकी उलटी बात हुई है। हमारी कुछ दुबलताओं ने अग्रेजो के शासन काल मे भी हममे आपस मे फूट पैदा कर रखी थी। लेकिन उस समय स्थिति काबू से बाहर नही हुई थी। अब वे अधिक प्राधान्य पा गई हैं और खतरनाक रूप से सक्रिय हो गई हैं।"

इन हृदयस्पर्शी तीक्ष्ण शब्दो को सुन कर श्रोताओं की सास रुक-सी गई। 'सासारिक परिस्थितियां और महात्मा गाधी जसे हमारे महिमाशाली नता स्वतन्त्रता को हमारे द्वार तक ले तो आए, परन्तु मैं यह कहने का साहस करता हू कि जब हम अपने प्रयत्नों से उसे अर्जित करते अथवा उसके योग्य बनते उसके पहले ही वह आ गई है।"

वह उन लोगो मे से थे, जो यह नही जानते थे कि राजनैतिक मुक्ति पर कैसे प्रसन्न हों।

'हमे राजनैतिक स्वतन्त्रता तो पूरी प्राप्त है, लेकिन फिर भी हम दुबल हैं गरीब हैं और नैतिक बल का हममे सवथा अभाव है। हम ऐसे क्यों हैं? मुझे इसका जो एकमात्र उत्तर मिलता है, वह यह है कि हमने अपने विचारों से, अपनी महत्वाकाक्षाओं से और अपने प्रयत्नो से सामाजिक समता को,

एकता को और बन्धुत्व की भावना को पूणतया निर्वासित कर दिया है ।"

महाराष्ट्र के उस सामाजिक सम्मेलन मे, जिसका वह उदघाटन कर रहे थे, उन्होंने महाराष्ट्र से और सारे भारत से एक अभ्यथना की जिसका समथन पिछली दशाब्दी के उनके सम्पूर्ण कामो से होता था।

"सारे जातिगत भेद भावों को दूर करने का प्रयत्न करो। 'हरिजन' जैसे शब्द को गुजरे जमाने की भूली बिसरी बात बना दो। पुरुष और स्त्री मे असमानता न रहने दो। एक सयुक्त महाराष्ट्र हो और एक सयुक्त भारत हो। हमारे प्राचीन धमग्रथो ने जिस सवभूत हितवाद (समस्त प्राणियो के कल्याण की कामना) के आदश का उपदेश दिया है वही आज हमारा आदश हो और वही हमारी पुकार हो।"

महर्षि ने अपने देशवासियो को यह स देश 1953 मे दिया था। इन शब्दो ने अपनी मार्मिकता और ताजगी आज भी नहीं खोयी है। उसकी प्रतिध्वनि अब भी वातावरण में गूज रही है। ये प्रतिध्वनिया केवल उनके मुखरित शब्दा की नहीं हैं बल्कि उनके समस्त कामो की भी हैं, उनके उस सम्पूण प्रयत्न की जिसने उनके एक सो पाच बरसो की जीवन-गाथा की रचना की है।

इस जीवनचरित का पारायण कर के जब पाठक इस पुस्तक को बन्द करेगा तो इसका चरित्र नायक उसकी दृष्टि मे किस रूप मे उभरेगा? क्या वह उसके बारे मे यह कहना चाहेगा कि वह इस 'युग मे एक ही अकेला' ऐसा व्यक्ति था। लेकिन उसकी इस उक्ति के पूण यह स्मरणीय है कि महर्षि स्वय उसका विरोध करने के लिए कह उठते— 'नही, किसी भी युग मे यह एक सामान्य व्यक्ति का सा जीवन चरित्र है।"

पाठक को महर्षि का यह फैसला स्वीकार कर लेना चाहिए। तभी वह महर्षि के जीवन को एक ऐसे उदाहरण के रूप मे सरलता के साथ स्वीकार कर सकेगा जिसका अनुकरण किया जा सकता है, क्योंकि इस जीवनचरित मे वह नमूना प्रस्तुत होता है जो किसी भी महान काय की उपलब्धि के लिए आचरणीय है। तभी वह उस ज्योति को जीवित रख सकेगा जिसे महर्षि ने जलाया था।